विवेक-ज्योति

वर्ष ४१ अंक ३ मार्च २००३ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
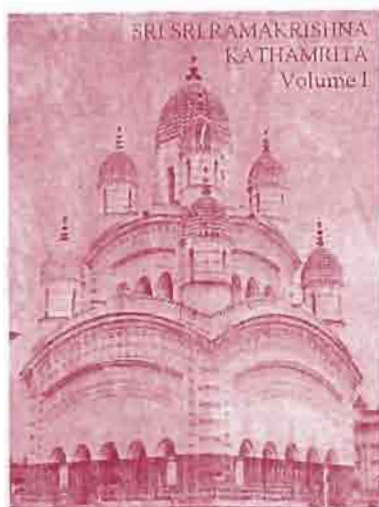
RECENTLY RELEASED

Sri Sri Ramakrishna Kathamrita
VOLUME I

in English

A word for word translation of original Bengali edition. Available as hardbound copy at subsidized price, **for Rs. 150.00 each.**

Also available:

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** Vol. I to V Rs. 275 per set

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali which were first published at Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. These are word for word translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 825 per set

  In this series of 16 volumes the reader is brought in close touch with the life and teachings of Sri Ramakrishna family: Thakur, Swamiji, Holy Mother, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. And there is the elucidation according to Sri Ramakrishna's line of thought, of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures. The third speciality of this work is the ***commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by the author himself.***

ENGLISH SECTION

- M., the Apostle & the Evangelist Vol. I to X Rs. 900.00 per set
  (English version of Sri Ma Darshan)
- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Centenary Memorial Rs. 100.00
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Rs. 150.00
- A Short Life of M. Rs. 25.00

For enquiries please contact:

SRI MA TRUST
Sri Ramakrishna Sri Ma Prakashan Trust
579, Sector 18-B, Chandigarh - 160 018 India
Phone: 91-172-77 44 60
email: SriMaTrust@bigfoot.com

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च २००३

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४१
अंक ३

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

१. श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त - ५ १०२
२. नीति-शतकम् (भर्तृहरि) १०३
३. रामकृष्ण-वन्दना ('विदेह') १०४
४. श्रीरामकृष्ण और उनकी देन (स्वामी विवेकानन्द) १०५
५. चिन्तन-८५ (जीवन का प्रयोजन) (स्वामी आत्मानन्द) १०८
६. अंगद-चरित (७/१) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) १०९
७. पुरखों की थाती (१३) ११३
८. आध्यात्मिक जीवन : क्यों और कैसे (उत्तरार्ध) (स्वामी सत्यरूपानन्द) ११५
९. जीने की कला (१९) (स्वामी जगदात्मानन्द) ११९
१०. श्रीरामकृष्ण और युगधर्म (स्वामी वीरेश्वरानन्द) १२३
११. हितोपदेश की कथाएँ (९) १२७
१२. मानवता की झाँकी (१) (स्वामी जपानन्द) १३०
१३. कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि और अर्जुन का विषाद (स्वामी शिवतत्त्वानन्द) १३२
१४. नहीं मिलेगा उनसे बढ़कर (कविता) (ब्रह्मचारी हेमलाल) १३८
१५. अनमोल उक्तियाँ १३८
१६. अथातो धर्म जिज्ञासा (१५) १३९
१७. वेदों की शब्द-रचना अपरिवर्तनीय है (डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर) १४१
१८. स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश १४४

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – ५
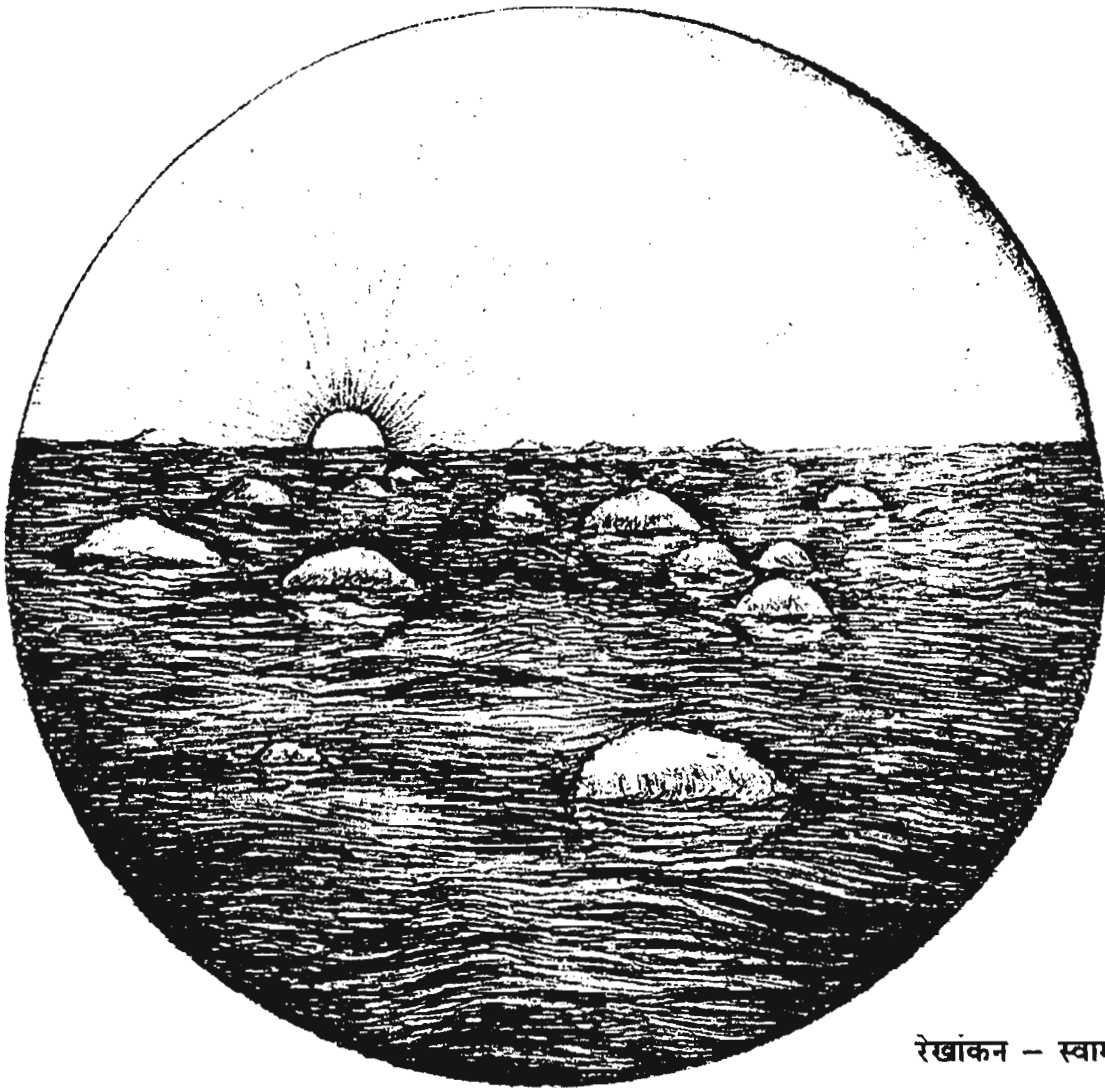
रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

भक्त और विज्ञानी निराकार और साकार दोनों मानते हैं – अरूप और रूप दोनों को ग्रहण करते हैं, भक्तिरूपी हिम के लगने से उसी जल का कुछ अंश बर्फ बन जाता है। फिर ज्ञान-सूर्य के उगने पर वह बर्फ गलकर जल का फिर जल ही हो जाता है।

मैं प्रतिमा में मिट्टी या पत्थर की काली नहीं देखता, मैं तो उसमें चिन्मयी काली देखता हूँ। जो ब्रह्म हैं, वे ही काली हैं। वे जिस समय क्रियारहित हैं, उस समय ब्रह्म; जब सृष्टि-स्थिति-प्रलय करती हैं, उस समय काली, अर्थात् जो काल के साथ रमण करती हैं। काल अर्थात् ब्रह्म। किस प्रकार, जानते हो! मानो सच्चिदानन्द-रूपी समुद्र है, कहीं किनारा नहीं है। भक्ति-रूपी हिम के कारण इस समुद्र में स्थान-स्थान पर जल बरफ के आकार में जम जाता है। अर्थात् भक्त के पास वे प्रत्यक्ष होकर कभी कभी साकार रूप में दर्शन देते हैं। फिर ब्रह्मज्ञान-रूपी सूर्य के उदय होने पर वह बरफ गल जाती है – अर्थात् 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' इस विचार के बाद समाधि होने पर रूप आदि सब अदृश्य हो जाते हैं। उस समय वे क्या हैं, मुख से कहा नहीं जा सकता – मन, बुद्धि, अहं के द्वारा उन्हें पकड़ा नहीं जा सकता।

नीति-शतकम्

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ।।७९।।

अन्वयः – मनसि वचसि काये पुण्य-पीयूष-पूर्णाः, उपकार-श्रेणिभिः त्रिभुवनम् प्रीणयन्तः, पर-गुण-परमाणून् पर्वतीकृत्य, निज-हृदि नित्यं विकसन्तः सन्तः कियन्तः सन्ति?

भावार्थ – संसार में ऐसे कितने सन्त हैं, जिनका तन-मन एवं वचन पुण्य अमृत से परिपूर्ण है, जो सतत परोपकार के द्वारा तीनों लोकों को प्रसन्न किये रहते हैं, जो सर्वदा दूसरों के परमाणु के बराबर गुण को भी पर्वत के समान देखते हैं और इस प्रकार सर्वदा अपने आप में ही सन्तुष्ट रहते हैं !

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव ।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ।।८०।।

अन्वयः – तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा किम्, यत्र च आश्रिताः तरवः ते एव तरवः । मलयम् एव मन्यामहे, यदाश्रयेण कङ्कोलनिम्बकुटजाः अपि चन्दनाः स्युः ।

भावार्थ – उन सोने तथा चाँदी के पर्वतों की क्या बड़ाई करें, जिस पर उगनेवाले वृक्ष साधारण वृक्ष ही रह जाते हैं ! हम तो मलय पर्वत की ही महिमा के कायल है, जिस पर उगनेवाले कंकोल, नीम तथा कूटज के साधारण वृक्ष भी चन्दन में परिणत हो जाते हैं।

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(यमन-त्रिताल)

सच्चिद्घन रामकृष्ण, ब्रह्मरूप जग भासत ।
निर्गुण होकर गुणमय, सबके अन्तर राजत ।।

देश काल रूप नाम, से अतीत पूर्णकाम,
युग युग में परातत्त्व, काया-नर धर साजत ।।

पंचेन्द्रिय पंचभूत, जिनसे ज्योतित प्रसूत,
उनकी आभा लखकर, माया मुख ढँक लाजत ।।

निर्विकल्प नित्य शुद्ध, तेजोमय चिर प्रबुद्ध,
द्रवित कृपा करत दान, दोष ताप भय भाजत ।।

परम तत्व ओतप्रोत, लीला नित दिव्य होत,
अन्तर आनन्द पूर्ण, अनहत वीणा बाजत ।।

– २ –

(आसावरी-कहरवा)

अब मैं और देव ना ध्याऊँ ।
रामकृष्ण प्रभु का आश्रित, उनका ही दास कहाऊँ ।।

सब अवतार देवता-देवी,
कृष्ण राम शिव दुर्गा वे ही,
ब्रह्म-शक्तिमय युगल रूप का,
निशि-दिन ध्यान लगाऊँ ।।

वे ही मेरे मातु पिता गुरु,
सुख-सम्पद चिर हृदय कल्पतरु,
उनकी शरणागति में रहकर,
चारि पदारथ पाऊँ ।।

रखते जहाँ वहीं रहता हूँ, उनकी धारा में बहता हूँ,
चाहे कहीं मुझे ले जाएँ, हो 'विदेह' संग जाऊँ ।।

– *विदेह*

श्रीरामकृष्ण और उनकी देन

स्वामी विवेकानन्द

अब एक ऐसे अद्‌भुत व्यक्ति के जन्म लेने का समय आ गया था, जिसमें हृदय और मस्तिष्क – दोनों एकत्र विद्यमान हों, जो शंकराचार्य के प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क और चैतन्यदेव के अद्‌भुत, विशाल, अनन्त हृदय का एक ही साथ अधिकारी हो, जो देखे कि सब सम्प्रदाय एक ही आत्मा, एक ही ईश्वर की शक्ति से चालित हो रहे हैं और प्रत्येक प्राणी में वही ईश्वर विराजमान है, जिसका हृदय भारत में अथवा भारत के बाहर दीन, दुर्बल, पतित सभी के लिए द्रवित हो, लेकिन साथ ही जिसकी विशाल बुद्धि ऐसे महान् तत्त्वों की परिकल्पना करे, जिनसे भारत में अथवा भारत के बाहर सब विरोधी सम्प्रदायों में समन्वय साधित हो और इस अद्‌भुत समन्वय द्वारा एक 'हृदय और मस्तिष्क के सार्वभौमिक धर्म' को प्रकट करे। ऐसे व्यक्ति के जन्म लेने का समय आ गया था, इसकी जरूरत पड़ी थी और वह पैदा हुआ। एक ऐसे ही व्यक्ति ने जन्म लिया और मैंने वर्षों तक उनके चरणों तले बैठकर शिक्षालाभ का सौभाग्य प्राप्त किया। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह थी कि उसका समग्र जीवन एक ऐसे शहर के पास व्यतीत हुआ, जो पाश्चात्य भावों से उन्मत्त हो रहा था, जो भारत के सब शहरों की अपेक्षा विदेशी भावों से अधिक भरा हुआ था। वहाँ पुस्तकीय ज्ञान से हर प्रकार से वह अनभिज्ञ रहता था, ये महा-प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति अपना नाम तक लिखना नहीं जानते थे।[1] किन्तु हमारे विश्वविद्यालय के बड़े बड़े अत्यन्त प्रतिभावान स्नातकों ने उन्हें एक महान् बौद्धिक प्रतिभा के रूप में स्वीकार किया। वे अद्‌भुत महापुरुष थे – श्रीरामकृष्ण परमहंस। ... उनके उपदेश आजकल हमारे लिए विशेष हितकर हैं। उनके भीतर जो ईश्वरीय शक्ति थी, उस पर विशेष ध्यान दो। वे एक निर्धन ब्राह्मण के पुत्र थे। उनका जन्म बंगाल के सुदूर, अज्ञात अपरिचित किसी एक गाँव में हुआ था। आज यूरोप, अमेरिका के हजारों लोग वास्तव में उनकी पूजा कर रहे हैं, भविष्य में और भी हजारों लोग उनकी पूजा करेंगे।

मैं जिन विचारों का सन्देश देना चाहता हूँ, वे सब उन्हीं के विचारों को प्रतिध्वनित करने की मेरी अपनी चेष्टा है। इसमें मेरा अपना निजी कोई भी मौलिक विचार नहीं। हाँ, जो कुछ असत्य या अनुचित है, वह अवश्य मेरा ही है। पर हर ऐसा शब्द, जिसे मैं आपके सामने कहता हूँ और जो सत्य एवं शुभ है, केवल उन्हीं की वाणी को झंकृत करने का प्रयत्न मात्र है।

आध्यात्मिक-व्यक्ति ही हमारे आदर्श होने चाहिए। श्रीरामकृष्ण परमहंस के रूप में हमें एक ऐसा ही आदर्श व्यक्ति मिला है। यदि यह जाति उठना चाहती है, तो मैं निश्चयपूर्वक कहूँगा कि उसे इस नाम के चारों ओर सोत्साह एकत्र हो जाना चाहिए। श्रीरामकृष्ण का प्रचार हम, तुम या चाहे जो कोई करे, इससे कुछ आता-जाता नहीं। इस महान् आदर्श व्यक्तित्व को मैं तुम्हारे सामने रखता हूँ और अब इस पर विचार करने का भार तुम पर है। इस महान् आदर्श व्यक्ति को लेकर क्या करोगे, इसका निश्चय तुम्हें अपनी जाति और अपने राष्ट्र के कल्याण हेतु अभी कर डालना चाहिए। एक बात याद रखो कि तुम लोगों ने जितने महापुरुष देखे हैं, जितने भी महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़े हैं, उनमें इनका जीवन सबसे पवित्र था और यह स्पष्ट ही है कि आध्यात्मिक शक्ति का ऐसा अद्‌भुत आविर्भाव तुम्हारे देखने की तो बात ही अलग, तुमने कभी पढ़ा भी न होगा। तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो कि उनके तिरोभाव के दस वर्ष के भीतर ही इस शक्ति ने पूरे विश्व को आच्छन्न कर लिया है। अत: कर्तव्य की प्रेरणा से अपनी जाति और धर्म की भलाई के लिए मैं यह महान् आध्यात्मिक आदर्श तुम्हारे सामने रखता हूँ। मुझे देखकर उनकी कल्पना न करना। मैं एक बहुत दुर्बल माध्यम मात्र हूँ। मुझे देखकर उनके चरित्र का निर्णय न करना। वे इतने बड़े थे कि मैं या उनका कोई अन्य शिष्य, सैकड़ों जीवन चेष्टा करते रहने के बावजूद उनके यथार्थ स्वरूप के करोड़वें अंश के तुल्य भी न हो सकेगा। तुम लोग स्वयं ही अनुमान करो। तुम्हारे हृदय के अन्तस्तल में वे 'सनातन साक्षी' वर्तमान हैं, और मैं हृदय से प्रार्थना करता हूँ कि हमारी जाति के कल्याण, हमारे देश की उन्नति तथा समग्र मानव-जाति के हित के लिए श्रीरामकृष्ण परमहंस ही तुम्हारा हृदय खोल दें; और इच्छा-अनिच्छा के बावजूद भी जो महा-युगान्तर अवश्यम्भावी है, उसे कार्यान्वित करने के लिए वे तुम्हें सच्चा और दृढ़ बनाएँ। तुम्हें और हमें रुचे या न रुचे, इससे प्रभु का कार्य रुक नहीं सकता, अपने कार्य के लिए वे धूलि से भी सैकड़ों और हजारों कर्मी पैदा कर सकते हैं। उनकी अधीनता में कार्य करने का अवसर मिलना ही परम सौभाग्य की बात है।

१. सामान्यत: कहते है कि वे बिल्कुल निरक्षर थे, पर बाद में अनुसन्धान से पता चला है कि वे थोड़ा बहुत लिखना-पढ़ना भी जानते थे।

यदि मनसा, वाचा, कर्मणा मैंने कोई सत्कार्य किया हो, यदि मेरे मुँह से कोई ऐसी बात निकली हो, जिससे संसार के किसी भी मनुष्य का कुछ उपकार हुआ हो, तो उसमें मेरा कुछ भी गौरव नहीं, वह उनका है। परन्तु यदि मेरी जिह्वा ने कभी अभिशाप की वर्षा की हो, यदि मुझसे कभी किसी के प्रति घृणा का भाव निकला हो, तो वे मेरे हैं, उनके नहीं। जो कुछ दुर्बल है, वह सब मेरा है, पर जो कुछ भी बलप्रद है, जीवनप्रद है, पवित्र है, वह सब उन्हीं की शक्ति का खेल है, उन्हीं की वाणी है और वे स्वयं हैं। मित्रो, यह सत्य है कि संसार अभी तक इन महापुरुष से परिचित नहीं हुआ। हम लोग संसार के इतिहास में सैकड़ों महापुरुषों की जीवनी पढ़ते हैं। इसमें उनके शिष्यों के लेखन एवं संयोजन का हाथ रहा है। हजारों वर्ष तक लगातार उन लोगों ने उन प्राचीन महापुरुषों के जीवन-चरित्रों को काट-छाँटकर सँवारा है। परन्तु इतने पर भी जो जीवन मैंने अपनी आँखों देखा है, जिनकी छाया में मैं रह चुका हूँ, जिनके चरणों में बैठकर मैंने सब सीखा है, उन श्रीरामकृष्ण परमहंस का जीवन जैसा उज्ज्वल और महिमान्वित है, वैसा मेरे विचार में और किसी महापुरुष का नहीं है।

वे यह जान गए थे कि सभी धर्मों का मुख्य भाव है कि 'मैं कुछ नहीं – तू ही सब कुछ है'; और जो कहता है – 'मैं नहीं' – बस, उसी के हृदय को ईश्वर परिपूर्ण कर देते हैं। जिसमें यह क्षुद्र अहंभाव जितना घटता है, उसमें ईश्वर का उतना ही प्राकट्य होता है। संसार के हर धर्म में उन्हें यही सत्य मिला और वे स्वयं उसी की अनुभूति करने में तल्लीन हो गए। जब भी कोई साधना करने का विचार उनके मन में आया, वे उसके सम्बन्ध में सूक्ष्म सैद्धान्तिक विवेचनाओं में न पड़कर तत्काल उसके अभ्यास में लग जाते। हम बहुत-से लोगों को उदारता, समानता, दूसरों के अधिकार आदि कितने ही सद्‌विषयों पर बड़ी बड़ी बातें करते हुए देखते हैं, परन्तु ये सब बातें केवल सैद्धान्तिक ही होती हैं। मैं परम भाग्यशाली था कि मुझे सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करनेवाले गुरुदेव मिल गए। जिस वस्तु को वे सत्य रूप समझते थे, उसको कार्यरूप में परिणत कर डालने की उनमें अद्‌भुत क्षमता थी।

हमारे गुरुदेव एक वृद्ध व्यक्ति थे, जो कभी हाथ से एक सिक्का तक नहीं छूते थे। जो थोड़ा-सा भोजन उन्हें दिया जाता था, वे उसे ही ले लेते थे और कुछ गज वस्त्र – बस, इससे अधिक कुछ नहीं। उन्हें और कुछ स्वीकार करने के लिए कोई प्रेरित ही न कर पाता था।

अपने गुरुदेव के सान्निध्य में रहकर मैंने जान लिया कि व्यक्ति इसी जीवन में पूर्णावस्था को पहुँच सकता है। उनके मुख से कभी किसी के लिए दुर्वचन नहीं निकले और न कभी उन्होंने किसी में दोष ढूँढ़ा। उनकी आँखें कोई बुरी चीज देख ही नहीं सकती थीं और न उनके मन में कभी बुरे विचार ही प्रविष्ट हो सकते थे। उन्हें जो कुछ दिखा, वह अच्छा ही दिखा। यही महान् पवित्रता तथा महान् त्याग तथा आध्यात्मिक जीवन का रहस्य है।

काम-कांचन पर पूर्ण विजय के वे जीवन्त व जाज्वल्य-मान उदाहरण थे। ये दोनों चीजें उनकी कल्पना के भी परे थी और इस शताब्दी को ऐसे ही महापुरुषों की जरूरत है। आज ऐसे ही त्याग की जरूरत है; विशेषकर जब लोग समझते हैं कि इन दोनों के बिना वे माह भर भी जीवित नहीं रह सकते, जिन्हें वे अपनी जरूरतें कहते हैं और जिनकी संख्या वे दिन-पर-दिन अधिकाधिक बढ़ाते जा रहे हैं। यह जरूरी हो गया है कि कोई ऐसा व्यक्ति उठकर संसार के अविश्वासी लोगों को दिखा दे कि आज भी एक ऐसे महापुरुष हैं, जो पूरे संसार की सम्पत्ति तथा कीर्ति की रत्ती भर भी परवाह नही करते।

वे सदैव यही कहा करते थे कि 'यदि मेरे मुँह से कोई अच्छी बात निकलती है, तो वे जगन्माता के ही शब्द होते हैं – मैं स्वयं कुछ नहीं कहता।' अपने प्रत्येक कार्य के सम्बन्ध में उनका यही विचार रहा करता था और महासमाधि के समय तक उनका यही विचार स्थिर रहा। मेरे गुरुदेव किसी को ढूँढ़ने नहीं गए। उनका सिद्धान्त यह था कि 'मनुष्य को पहले चरित्रवान बनना चाहिए, आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उसके बाद फल स्वयं ही मिल जाता है।' वे बहुधा एक दृष्टान्त दिया करते थे – "जब कमल खिलता है, तो मधुमक्खियाँ स्वयं ही उसके पास मधु के लिए आ जाती हैं – वैसे ही जब तुम्हारा चरित्ररूपी कमल पूर्ण रूप से खिल जाएगा, जब तुम आत्मज्ञान प्राप्त कर लोगे, तब देखोगे कि सारे फल तुम्हे अपने आप ही आप प्राप्त हो जाएँगे।" हम सभी के लिए यह एक बहुत बड़ी शिक्षा है।

जिस प्रकार मैं तुम्हें एक फूल दे सकता हूँ, उसी प्रकार या बल्कि उससे भी अधिक प्रत्यक्ष रूप से धर्म भी संप्रेषित किया जा सकता है और यह बात अक्षरश: सत्य है। ... सत्य का ज्ञान पहले स्वयं को होना चाहिए और उसके बाद उसे तुम अनेक लोगों को सिखा सकते हो, बल्कि वे लोग स्वयं उसे सीखने आयेंगे। यही मेरे गुरुदेव की शैली थी।

इन अद्‌भुत महापुरुष के दर्शन करने तथा उपदेश सुनने के लिए हजारों लोग आते थे और मेरे गुरुदेव गाँव की भाषा में ही बोलते थे, परन्तु उनका प्रत्येक शब्द ओजस्वी तथा प्रकाश से उद्‌भासित रहा करता था। क्योंकि महत्त्व इसका नही है कि क्या तथा किस भाषा में कहा जाता है, बल्कि जो लोग अपने शब्दों में अपने व्यक्तित्व को ढाल सकते हैं, वे ही प्रभावी होते हैं, परन्तु उस मनुष्य का व्यक्तित्व ही असाधारण होना चाहिए।

हमने बुद्ध, ईसा-मसीह, मुहम्मद और पुराणकालीन अन्य महात्माओ के विषय में पढ़ा है। वे किसी भी मनुष्य के सम्मुख

खड़े होकर कह देते थे, 'तू पूर्णता को प्राप्त हो जा' और वह व्यक्ति उसी क्षण पूर्णता को प्राप्त हो जाता था। यह बात अब मुझे सत्य प्रतीत होने लगी और जब मैंने इन महापुरुष के स्वयं दर्शन कर लिए, तो मेरी सारी नास्तिकता दूर हो गई। मेरे गुरुदेव कहा करते थे, "इस संसार की किसी भी ली-दी जानेवाली वस्तु की अपेक्षा धर्म अधिक आसानी से दिया तथा लिया जा सकता है। अत: पहले तुम स्वयं आत्मज्ञानी हो जाओ, संसार को कुछ देने योग्य बन जाओ और तब संसार के सम्मुख देने के लिए खड़े होओ।

उन्हें अपने स्वयं के अनुभव द्वारा ज्ञात हुआ कि हर धर्म का लक्ष्य एक ही है और सब धर्म एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं – अन्तर केवल पद्धति तथा विशेष रूप से भाषा में रहता है। वस्तुत: सब पंथों तथा धर्मों का ध्येय मूलत: एक ही है।

मानव-जाति के लिए मेरे गुरुदेव का सन्देश है – "सर्वप्रथम स्वयं धार्मिक बनो और सत्य की उपलब्धि करो।" वे चाहते थे कि तुम अपने भ्रातृ-स्वरूप समग्र मानव-जाति के कल्याण के लिए सर्वस्व त्याग दो। उनकी इच्छा थी कि भाईचारे के विषय में बातें बिल्कुल मत करो, वरन् अपने शब्दों को सिद्ध करके दिखाओ। त्याग तथा प्रत्याक्षानुभूति का समय आ गया है और इन्हीं से तुम जगत् के सभी धर्मों में सामंजस्य देख सकोगे। तब तुम्हें प्रतीत होगा कि आपस में झगड़े की कोई आवश्यकता नहीं है और तभी तुम समग्र मानव जाति की सेवा करने के लिए तैयार हो सकोगे। इस बात को स्पष्ट रूप से दिखा देने के लिए कि सब धर्मों में मूल तत्त्व एक ही है, मेरे गुरुदेव का अवतार हुआ था। अन्य धर्म-संस्थापकों ने स्वतंत्र धर्मों का उपदेश दिया था और वे धर्म उनके नाम से प्रचलित हैं; परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के इन महापुरुष ने स्वयं के लिए कोई भी दावा नहीं किया। उन्होंने किसी धर्म को क्षुब्ध नहीं किया, क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभूति कर ली थी कि वस्तुत: सभी धर्म एक ही 'चिरंतन धर्म' के अभिन्न अंग हैं।

आर्य-जाति का वास्तविक धर्म क्या है और सतत विवदमान, आपात-प्रतीयमान अनेकश: विभक्त, सर्वथा विरोधी आचारयुक्त सम्प्रदायों से घिरे, स्वदेशियों का भ्रान्ति-स्थान एवं विदेशियों का घृणास्पद हिन्दू धर्म नामक युग-युगान्तरव्यापी विखण्डित एवं देश-काल के योग से इधर-उधर बिखरे हुए धर्मखण्ड-समष्टि के बीच यथार्थ एकता दिखलाने के लिए और कालवश नष्ट इस सनातन धर्म का सार्वलौकिक, सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक स्वरूप अपने जीवन में आयत्त कर, विश्व के समक्ष सनातन धर्म के सजीव उदाहरण-स्वरूप स्वयं को प्रदर्शित करते हुए लोकहितार्थ श्री भगवान रामकृष्ण अवतीर्ण हुए।

श्रीरामकृष्ण का जीवन एक असाधारण ज्योतिर्मय दीपक है, जिसके प्रकाश में हिन्दू धर्म के विभिन्न अंग एवं आशय समझे जा सकते हैं। शास्त्रों में निहित सिद्धान्त-रूप ज्ञान के वे प्रत्यक्ष उदाहरण-स्वरूप थे। ऋषि और अवतार हमें जो वास्तविक शिक्षा देना चाहते थे, उसे उन्होंने अपने जीवन द्वारा दिखा दिया। शास्त्र मतवाद मात्र है और श्रीरामकृष्ण हैं उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति। उन्होंने ५१ वर्ष में पाँच हजार वर्ष का राष्ट्रीय आध्यात्मिक जीवन जिया और इस तरह वे भविष्य की सन्तानों के लिए स्वयं को एक शिक्षाप्रद उदाहरण बना गए। विभिन्न मत एक एक अवस्था या क्रम मात्र हैं – उनके इस सिद्धान्त से वेदों का अर्थ समझ में आ जाता है और शास्त्रों में सामंजस्य भी स्थापित हो सकता है। इसके अनुसार हमें दूसरे धर्म या मत के लिए केवल सहनशीलता ही नहीं दिखानी चाहिए, वरन् उन्हें स्वीकार करके जीवन में रूपायित करना चाहिए और इस सिद्धान्त के अनुसार सत्य ही सब धर्मों की नींव है।

इस महायुग के उषाकाल में सभी भावों का मिलन प्रचारित हो रहा है और यह असीम अनन्त भाव, जो सनातन धर्म तथा इसके शास्त्रों में अब तक छिपा हुआ था, पुन: आविष्कृत होकर उच्च स्वर से जन समाज में उद्घोषित हो रहा है।

यह नव युगधर्म समस्त जगत् के लिए, विशेषत: भारत के लिए, महा-कल्याणकारी है और इस युगधर्म के प्रवर्तक श्री भगवान रामकृष्ण पहले के समस्त युगधर्म-प्रवर्तकों के पुन: संस्कृत प्रकाश हैं। हे मानव, इस पर विश्वास करो और इसे हृदय में धारण करो।

मृत व्यक्ति फिर से नहीं जीता। बीती रात फिर से नहीं आती। विगत उच्छ्वास फिर से नहीं लौटता। जीव दो बार एक ही देह धारण नहीं करता। हे मानव, मृतक की पूजा करने के बदले हम जीवित की पूजा के लिए तुम्हारा आह्वान करते हैं; बीती हुई बातों पर माथापच्ची करने के बदले हम तुम्हें प्रस्तुत प्रयत्न के लिए बुलाते हैं। मिटे हुए मार्ग को खोजने में व्यर्थ शक्ति-क्षय करने के बदले अभी बनाये हुए प्रशस्त और सन्निकट पथ पर चलने के लिए आह्वान करते हैं। बुद्धिमान, समझ लो!

जिस शक्ति के उन्मेष मात्र से दिग्दिगन्त-व्यापी प्रतिध्वनि जाग्रत हुई है, उसी पूर्णावस्था को कल्पना से अनुभव करो और व्यर्थ की शंका, दुर्बलता और दासजाति-सुलभ ईर्ष्या-द्वेष को छोड़कर इस महायुग-चक्र के प्रवर्तन में सहायक बनो।

यह दृढ़ विश्वास लेकर कि 'हम प्रभु के दास हैं, उनके पुत्र हैं, प्रभु की लीला के सहायक हैं' – कार्यक्षेत्र में उतर पड़ो।

❖ (क्रमश:) ❖

जीवन का प्रयोजन

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

जीवन के प्रयोजन पर दो दृष्टियों से विचार किया गया है। पहली दृष्टि जड़वादी दृष्टि है। विज्ञान इस दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। तथा, दूसरी दृष्टि आध्यात्मिक दृष्टि है। भारत की तत्त्वमीमांसा और विशेषकर वेदान्त में यह दृष्टि निबद्ध है। जीवन के सूक्ष्मतर रहस्यों के क्षेत्र में विज्ञान की कोई गति नहीं है, इसीलिए वह जीवन के प्रयोजन पर तात्त्विक दृष्टि से विचार नहीं कर सकता। जो लोग भौतिकवादी विचारधारा रखते हैं, वे इस जन्म को तथा जीवन की समस्त घटनाओं को एक्सिडेंट (आकस्मिक) माना करते हैं। भारत में भी ऐसे जड़वादी चार्वाक रहे हैं, जिन्होंने जीवन के आगे-पीछे कुछ भी नहीं देखा। वे तो यहाँ तक कह गए – **यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥** – जब तक जीओ, मौज से जीओ। यदि उसके लिए उधार लेकर घी पीने की आवश्यकता हो, तो वह भी करो। एक बार देह के भस्मीभूत हो जाने पर आने का सवाल ही कहाँ है।

अनेक भौतिकवादियों ने इस जीवन को आकस्मिक माना। वे इसका कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं देख पाये। पर आज का विज्ञान किसी घटना को आकस्मिक नहीं कहता। यदि कोई बात 'आकस्मिक' दिखाई देती है, तो केवल इसलिए कि हम उसके पीछे छिपे नियम को जानने में असमर्थ हैं। वैसे ही आज का विज्ञान भी जीवन को निरुद्देश्य नहीं मानता। हम प्रवाह-पतित तिनके नहीं है कि जिधर हमें प्रवाह बहा ले जाय, बहते रहेंगे। आज कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को लक्ष्यहीन नहीं मान सकता। पैसा कमाना और धन संचय करना, परिवार का पालन-पोषण करना, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करना – यह सब जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। यह तो पशु-पक्षी भी करते हैं। चीटियाँ संग्रह करती है, पशु-पक्षी अपने परिवार का पालन-पोषण करते हैं। पशु भी अपने दल का नेता होना पसन्द करते हैं। यदि मनुष्य भी इसी सब कुछ को स्पृहणीय माने, तो उसमें और पशु में क्या भेद? संस्कृत के एक सुभाषित में कहा गया है – **आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्। धर्मो हि तेषामधिको विशेषः तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः॥** – आहार, निद्रा, भय और प्रजनन की वृत्तियाँ पशुओं और मनुष्यों में समान हैं। मनुष्यों में धर्म की वृत्ति अधिक या विशेष हुआ करती है। यदि मनुष्य धर्म की वृत्ति से हीन हो जाय तो वह पशु के ही समान है।

यह धर्म ही मनुष्य में विशेषता लाता है। पशु अपने मन का नियंत्रण नहीं कर सकता। वह अपनी गतिविधियों का साक्षी नहीं बन सकता, क्योंकि वह अपनी सहज प्रवृत्तियों के द्वारा परिचालित होता है। पर मनुष्य का मन इतना विकसित है कि वह अपनी क्रियाओं को समझने और पकड़ने में समर्थ होता है, वह मानो सहज हटकर अपनी क्रियाओं को देख सकता है। यही उसकी विशेषता है। पर यह विशेषता आज उसमें सम्भावना के रूप में छिपी है। यह सम्भावना जितनी मात्रा में प्रकट होती है, उतनी मात्रा में मनुष्य अपनी विकास-यात्रा का स्वामी होता जाता है और जिस दिन वह इस सम्भावना को पूरी तरह प्रकट कर लेता है, उस दिन वह पूर्ण बन जाता है, बुद्ध बन जाता है, कृष्ण और ईसा बन जाता है, रामकृष्ण बन जाता है, सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। उसके जीवन में तब विकास-क्रम की पूर्णता साधित हो जाती है। लिंकन बार्नेट अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि युनिवर्स एंड डॉक्टर आईंस्टीन' में लिखते हैं कि मनुष्य अपनी इस सम्भावना से अपरिचित होने के कारण ही अशान्ति और दुःख का शिकार है। उसके अनुसार मनुष्य की 'नोबलेस्ट एण्ड मोस्ट मिस्टीरियस फैकल्टी' – सबसे उदात्त और रहस्यमयी क्षमता है – "दि एबिलिटी टू ट्रांसेंड हिमसेल्फ एंड परसीव हिमसेल्फ इन दि एक्ट आफ परसेप्शन" – "अपने को लाँघकर देखने की इस क्रिया में अपने आपको देखने की सामर्थ्य।" मनुष्य की इसी क्षमता को हम धर्म की भाषा में साक्षीभाव के नाम से पुकारते हैं। पशु में यह क्षमता नहीं होती। जिस उपाय से मनुष्य अपनी इस छिपी क्षमता को अभिव्यक्त करता है, उसे हम 'धर्म' के नाम से सम्बोधित करते हैं। अपनी इस क्षमता का प्रकाशन मानव-जीवन का चिर प्रयोजन है। ❑❑❑

अंगद-चरित (७/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके सातवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

अंगद के चरित्र में साधना के विकास का एक क्रम है। उनके चरित्र का एक बड़ा ही विलक्षण और उत्कृष्ट पक्ष तब सामने आता है, जब वे भगवान राम के द्वारा राजदूत के रूप में रावण की सभा में भेजे जाते हैं। वहाँ रावण से उनका जो संवाद हुआ, वह बड़ा ही लोकप्रिय है। 'मानस' में दो ऐसे संवाद हैं, जिसमें साधारण जन को बहुधा बड़े आनन्द की अनुभूति होती है। उनमें से एक तो है बाल-काण्ड में लक्ष्मण-परशुराम संवाद और दूसरा है लंका-काण्ड में अंगद-रावण संवाद। पर दोनों संवादों के प्रति लोगों का जो आकर्षण है, उसके पीछे जो मनोवृत्ति है, वह उतनी कल्याणकारी नहीं है।

धनुष टूटने के बाद परशुराम जी से भगवान राम का जो संवाद हुआ, उसे तो गोस्वामी जी ने 'राम-राम संवाद' के रूप मे लिखा है, पर बड़े आश्चर्य की बात यह है कि वह 'लक्ष्मण-परशुराम संवाद' के रूप में विख्यात हो गया है। उस प्रसंग की बात उठने पर व्यक्ति बड़े उत्साहपूर्वक 'लक्ष्मण-परशुराम संवाद' ही कहेगा, उनका यही नाम लेगा।

जिसको हम लक्ष्मण-परशुराम संवाद मानकर आनन्द लेते हैं, उस पर एक सन्त ने एक व्यंग्य और यथार्थ व्यंग्य किया। जब मैं वृन्दावन में रहता था, तो वहाँ प्रति वर्ष रामलीला का आयोजन होता था। जिस दिन यह 'राम-राम संवाद' का प्रसंग था, उस दिन आश्रम में बहुत बड़ी भीड़ एकत्रित हुई थी। किसी भी आयोजन में जब बहुत बड़ी भीड़ एकत्र हो, तो इससे आयोजन-कर्ताओं को आनन्द और सन्तोष होना स्वाभाविक है। लेकिन उस दिन के भीड़ को उस सन्त ने प्रसन्नता के रूप में नहीं लिया, बल्कि उन्होंने कहा कि कल भी तो भगवान राम की ही लीला चल रही थी और कल भी लीला आगे बढ़ेगी, पर न तो कल इतनी भीड़ थी और शायद कल भी इतनी भीड़ नहीं रहेगी। इससे तो यही पता चलता है कि लोगों को रामायण में भी झगड़ा ही पसन्द है, शान्ति पसन्द नहीं। जहाँ कहीं 'तू-तू, मैं-मैं' दिखाई दे, उसी में उन्हें आनन्द आता है। इसलिए इस भीड़ की जो मनोवृत्ति है, इसी में लोगों को सन्तोष और आनन्द मिलता है। यह यथार्थ है। जो साधारण व्यक्ति के रस लेने का केन्द्र है, वह यही है।

कथा या लीला के तीन स्तर हैं – मन का स्तर, बुद्धि का स्तर और चित्त का स्तर। जो विषयी होता है, वह भगवान की लीलाओं या उनके चरित्र का मन के स्तर पर आनन्द लेता है; जो साधक होता है, वह मन के साथ ही बुद्धि के स्तर पर रामकथा का श्रवण करता है या रामलीला के तत्त्व को हृदयंगम करता है और जो सिद्ध पुरुष होते हैं, वे मन-बुद्धि के साथ-ही-साथ चित्त की भूमि में उस लीला का आस्वादन करते हैं। इसलिए गोस्वामी जी मनोरंजन के पक्ष को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखते। वे यह कहने में संकोच नहीं करते कि रामकथा बड़ी मनोरंजक है, पर साथ ही वे यह भी कह देते हैं – विषयी को रामकथा में श्रवणानन्द की अनुभूति होती है और उसके मन को मनोरंजन मिलता है –

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा।
श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा।। ७/५३/४

इस प्रकार यदि हमें रामायण में, भगवान के चरित्र में मनोरंजन का रस प्राप्त होता है, तो इसमें बुराई नहीं है। परन्तु यदि हम मन के स्तर पर ही रुक ज़ायँ, केवल मनोरंजन को ही उसका सबसे प्रमुख लक्ष्य बना लें, तब तो विद्यार्थियों के समान एक कक्षा से दूसरी कक्षा में प्रवेश पाने की जगह एक ही कक्षा में रुके रहना हुआ। विद्यार्थी यदि एक ही कक्षा में रुका रहे, तो यह तो कोई प्रसन्नता की बात नहीं है। वैसे ही व्यक्ति यदि केवल मन के स्तर पर ही आनन्द ले और बुद्धि तथा चित्त की भूमि में प्रवेश न करे, तो इसका अर्थ है कि उस व्यक्ति की प्रगति रुक गई।

यह 'लक्ष्मण-परशुराम संवाद' और 'अंगद-रावण संवाद' मन के स्तर पर बड़ा मनोरंजक अवश्य है। इन दोनों ही प्रसंगों में यदि आप बुद्धि की दृष्टि से विचार करें, चित्त की दृष्टि से चिन्तन करें, तो ये दोनों प्रसंग जितने मनोरंजक प्रतीत होते हैं, उतने ही गम्भीर और रहस्यपूर्ण भी हैं। इस 'अंगद-रावण संवाद' के प्रसंग को जिस स्तर पर लिया जाता है, वही सब कुछ नहीं है। वस्तुत: यह संवाद इतने संकेतों से ओत-प्रोत है कि उसको हम चाहें समाज के सन्दर्भ में देखें, या धर्म के सन्दर्भ में, या राजनीति की दृष्टि से उस पर विचार करें, ये दोनों ही प्रसंग बड़े ज्ञानवर्धक लगेंगे। 'लक्ष्मण-परशुराम संवाद' तो अपने आप में बड़ा विस्तृत है। अभी हम 'अंगद-रावण संवाद' पर ही दृष्टि डालेंगे और उसमें विभिन्न स्तरों पर जो संकेत निहित हैं, उन पर गहराई से विचार करेंगे।

भगवान श्री राघवेन्द्र समुद्र पार करके सुवैल शैल पर ठहरे हैं। वे अपने मंत्रिमण्डल के समक्ष यह प्रश्न रखते हैं कि किसे राजदूत बनाकर लंका भेजना चाहिए? यहाँ हनुमान जी और अंगद में थोड़ा भेद दिखाई देता है। जब श्री राघवेन्द्र ने सीता जी के पास सन्देश भेजने का निर्णय लिया, तो वहाँ किसी से भी यह नहीं पूछा कि मैं दूत बनाकर सीता जी के पास किसे भेजूँ? वहाँ पर हनुमान जी का चुनाव उनका व्यक्तिगत चुनाव था। हनुमान जी आकर प्रणाम करते हैं और प्रभु उन्हें भार सौंप देते हैं। पर जब लंका में रावण के पास राजदूत भेजने की समस्या आती है, तो प्रभु स्वयं निर्णय नहीं करते। वे यह प्रश्न मंत्रियों के समक्ष रख देते हैं। इसका अभिप्राय क्या है?

रामायण में जो सेतु की स्थापना है, भगवान राम ने समुद्र पर जिस सेतु का निर्माण किया था, आज उसका अस्तित्व नहीं है। रामेश्वरम् में उस स्थान का पता अवश्य लगता है, जहाँ पर प्रभु ने सेतु की रचना की थी। आज यदि हम उस सेतु को देखना चाहें, तो वह दिखाई नहीं देगा। परन्तु भगवान राम ने केवल समुद्र पर ही सेतु का निर्माण नहीं किया, बल्कि उन्होंने अपने चरित्र के द्वारा इतने सेतु बनाए कि भले ही वह भौतिक सेतु आज दिखाई नहीं देता, पर बड़ी प्रसन्नता की बात है कि यदि प्रारम्भ से लेकर पूरे राम-चरित पर दृष्टि डालें, तो आपको स्पष्ट दिखाई देगा कि **भगवान राम का चरित्र असंख्य सेतुओं का निर्माण करता है। इस सेतु-निर्माण की प्रक्रिया के कई तात्पर्य हैं। उनमें से एक तात्पर्य है दो किनारों को जोड़ना।** नदी बह रही है और उसके दो किनारे हैं आमने-सामने, पर बीच में जल की धारा है, इसलिए दोनों में दूरी है। वह दूरी मिटेगी नहीं, क्योंकि धारा तो रहेगी ही, अत: दूरी भी बनी रहेगी। पर उन दोनों किनारों को सेतु के द्वारा जोड़कर एक-दूसरे से मिलाया जा सकता है। जो समस्या नदी के दो किनारों की है, वही समस्या समाज की है। राजनीति के सन्दर्भ में, धर्म के सन्दर्भ में, व्यवहार के सन्दर्भ में इसी प्रकार की दूरी दिखाई देती है। इस दूरी को देखकर ऐसा लगता है कि यदि हम एक को स्वीकार करेंगे, तो दूसरे को छोड़ना पड़ेगा। लेकिन भगवान राम ने अपने चरित्र के द्वारा मानो यह सामंजस्य स्थापित किया कि नहीं, विभिन्न विचार-धाराओं में या व्यवहार में यह जो इतनी दूरी है, उसे मिटाया जा सकता है, इसीलिए तो गुरु वशिष्ठ ने भगवान राम को सेतु की उपाधि दी –

धर्म सेतु करुनायतन
कस न कहहु अस राम। २/२४८

गोस्वामीजी को यह सेतु-प्रतीक बड़ा प्रिय है। वे कहते हैं कि भगवान का नाम सेतु है –

नाथ नाम तव सेतु नर
चढ़ि भव सागर तरहि। ६/मं. सो.

भगवान के सौन्दर्य का वर्णन भी वे सेतु के रूप में करते हैं। जब समुद्र में जलचरों द्वारा सेतु का निर्माण होता है, तो वहाँ भगवान के सौन्दर्य के द्वारा ही इस सेतु का निर्माण होता है। श्रीराम का नाम भी सेतु है, श्रीराम का रूप भी सेतु है और उनका चरित भी सेतु है। उस चरित के लिए वे कहते हैं –

चरित करत नर अनुहरत
संसृति सागर सेतु।। २/८७

भगवान राम ने अपने चरित के द्वारा सेतु का निर्माण किया। इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि जब वशिष्ठ जी ने श्रीराम को सेतु की उपाधि दी, तो उन्होंने मानो उन्हें सचमुच ही अपने चरित्र के द्वारा सेतु बनाने का यह संकेत-सूत्र दिया। जब भरत जी की ओर से गुरु वशिष्ठ श्रीराम से प्रार्थना करते हैं – आप लौट चलिए, तो वहाँ एक ओर भरत की भावुकता और प्रेम के कारण वशिष्ठ जी को यह लगता है कि श्रीराम को लौट जाना चाहिए, वहीं दूसरी ओर धर्म और सत्य की दृष्टि से उन्हें लगता है कि श्रीराम को वन में ही रहना चाहिए। समस्या तो सचमुच यही है। यदि राम वन में रह जाते हैं तो सत्य और धर्म की रक्षा होती है, पर भरत का प्रेम तिरस्कृत होता है और यदि भरत के प्रेम के कारण भगवान अयोध्या लौट जाते हैं, तो धर्म दूर हो जाता है। तब गुरु वशिष्ठ ने श्रीराम को सेतु की उपाधि दी। पर यह सेतु बनाने का बड़ा कठिन कार्य उन्होंने भगवान राम को सौंप दिया। वह सेतु क्या था? गुरु वशिष्ठ दो तरह की बातें कहते हैं। एक ओर तो कहते हैं कि राम अयोध्या लौट चलें, फिर कहते हैं कि मैं तो भरत के प्रेम के वशीभूत होकर कह रहा हूँ। – तो फिर क्या आज्ञा है? बड़ा कठिन सेतु है। और आगे तो उन्होंने और भी स्पष्ट कर दिया। महत्त्व तो दोनों को दें, पर करें क्या? गुरु वशिष्ठ आदेश देते हैं – लोकमत और साधुमत, राजनीति और वेद की दृष्टि से जो ठीक हो, वह कीजिए –

करब साधुमत लोकमत
नृपनय निगम निचोरि।। २/२५८

अब आप क्या समझते हैं कि ये जो नन्हें नन्हें शब्द हैं, इसकी दूरी कोई साधारण दूरी है? लोकमत को महत्त्व दें कि साधुमत को? समाज में दोनों है। एक ओर नदी के एक किनारे की तरह महापुरुष हैं, साधुजन हैं और दूसरे किनारे की तरह साधारण जन हैं। अब गुरु यह कह देते हैं कि लोकमत ही सर्वोच्च है, तो बात सरल हो जाती। पर गुरु वशिष्ठ कह देते हैं कि नहीं, साधुमत की भी रक्षा हो और लोकमत की भी। अब यह कितना कठिन कार्य है? साधुमत अपरिवर्तनीय है, न बदलनेवाला, अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहनेवाला है और लोकमत इतना परिवर्तनशील है कि देश, काल और परिस्थितियाँ बदलते ही क्षण भर में लोकमत बदल जाता है। किस समय लोक बदल जाएगा इसको कोई बता नहीं सकता।

गोस्वामी जी ने 'मानस' में सभी पक्षों को उजागर किया है। लोकमत के कई चित्र उन्होंने प्रस्तुत किए हैं। उनमें से एक चित्र जनकपुर का भी है। जनकपुर वाले तो बड़े गम्भीर थे, परन्तु उनमें भी वह लोकमत वाली परिवर्तनशीलता है। जब भगवान श्रीराम और लक्ष्मण जनकपुर आए थे, तो दोनों भाइयों का बड़ा स्वागत हुआ था। जनकपुर-वासिनी स्त्रियाँ उनकी प्रशंसा करते हुए कहती थीं –

लछिमनु नामु राम लघु भ्राता।
सुनु सखि तासु सुमित्रा माता।। १/२२१/८
बिप्र काजु करि बंधु दोउ
मग मुनिबधू उधारि।
आए देखन चापमख
सुनि हरषीं सब नारि।। १/२२१

चारों ओर श्रीराम और लक्ष्मण के ऊपर फूल बरसाए जा रहे थे। बड़ा उत्साह था। पर जब परशुराम जी से लक्ष्मण जी का संवाद होने लगा, तो जो इतना गम्भीर लोकमत था, वह भी बदल गया। जितने भी प्रशंसक और फूल बरसानेवाले थे, सबके सब कहने लगे – यह छोटा भाई तो बड़ा खोटा है –

थर थर काँपहिं पुर नर नारी।
छोट कुमार खोट बड़ भारी।। १/२७८/५

अभी तो बड़े सज्जन बता रहे थे और अब कहते हैं कि बड़े खोटे हैं। यह लोकमत का चित्र है। साधुमत में परिवर्तन नहीं होता। विश्वामित्र जी पहले भी लक्ष्मण को श्रेष्ठ मानते थे और अब भी मानते हैं। उनके अन्तःकरण में लक्ष्मण को लेकर कोई प्रश्न नहीं है। प्रश्न है लोकमत में। अब अयोध्या में देखें। वहाँ के नागरिक बड़े अच्छे हैं, पर वही लोकमत की चंचलता वहाँ भी दिखाई देती है। जब भरत जी आए, तो अयोध्यावासियों के मन में भरत जी से इतनी दूरी थी कि वे पास भी नहीं आते, दूर से ही प्रणाम करके चले जाते हैं –

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु
गवँहि जोहारहिं जाहिं।। २/१५८

यह जो भरत जी की उपेक्षा थी, उसके पीछे क्या भावना थी? उन लोगों के मन में एक सन्देह घर कर गया था कि कैकेयी ने जो कुछ किया, उसके पीछे भरत का ही षड्यंत्र है। अवश्य भरत जी ने ही ननिहाल से सारी योजना भेजकर उसे कैकेयी जी से क्रियान्वित कराया है। इसलिए भरत जी के प्रति उनके मन में रंचमात्र भी सद्भावना नहीं है। केवल दिखावे के लिए दूर से प्रणाम करते हैं, पर भरत जी से वे दूर ही रहते हैं। वे यह बता देना चाहते हैं कि भले ही आप सिंहासन पर बैठें और इस नाते हम आपको प्रणाम करते हैं, पर हमारे आपके बीच यह दूरी मिटनेवाली नहीं है। लेकिन बाद में कितना बदलाव आ गया। लक्ष्मण जी के बारे में पहले अच्छे और बाद में खोटे की बात फैल गई, तो भरत जी के विषय में यह उल्टा हो गया। पहले तो लगा कि भरत जी बड़े षड्यंत्रकारी हैं, पर जब अयोध्या में सभा हुई, गुरु वशिष्ठ ने भरत जी से राज्य लेने का प्रस्ताव किया, सुमन्त और कौशल्या जी ने भी वशिष्ठ जी का समर्थन किया, अयोध्या के सारे नागरिक इस सभा के सदस्य थे, यह केवल न्याय मत नहीं था। वशिष्ठ जी तो साधु मत के प्रतीक हैं, पर उन्होंने भरत जी से कहा कि उनके पीछे जनमत भी है। एक व्यक्ति ऐसा नहीं है जो तुम्हारे सिंहासन पर बैठने का विरोधी हो।

परन्तु क्या वशिष्ठ जी का यह दृष्टिकोण सही था? यदि सचमुच श्री भरत सिंहासन पर बैठ जाते, तो क्या आप जानते हैं कि उसकी क्या प्रतिक्रिया होती? गुरु वशिष्ठ ने यह दिखाने की चेष्टा की कि जनमत यह चाहता है कि भरत सिंहासन पर बैठें। यदि जनता यह न चाहती होती, तो खड़ी होकर मेरे इस कथन का विरोध करती। पर यदि कोई खड़ा होकर विरोध न करे, तो इससे क्या वह समर्थक हो जाता है? – पता चल गया। – क्या? भरत जी ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया और यह निर्णय किया – मैं तो कल प्रातःकाल प्रभु के पास जाऊँगा, तब अयोध्या का जनमत, जो सचमुच ही भरत का बड़ा आलोचक था, उनसे इतना प्रभावित हो गया कि – भरत सबके प्राणप्रिय हो गए –

प्रात काल चलिहउँ प्रभु पाहीं। २/१८३/२
चलत प्रात लखि निरनउ नीके।
भरतु प्रानप्रिय भे सबही के।। २/१८५/२

सबके प्राणप्रिय हो गए। इसका अर्थ है कि पहले बिलकुल नहीं थे। प्राणप्रिय तो क्या, वे तो बहुत दूरी बनाए हुए थे। यदि गुरु वशिष्ठ की बात मानकर वे सिंहासन पर बैठ जाते, तब तो यह दूरी और भी अधिक बढ़ जाती। बल्कि जब भरत जी का भाषण शुरू हुआ, तो अयोध्या-वासियों पर उसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। वशिष्ठ जी ने राज्य स्वीकार करने का प्रस्ताव किया और भरत जी जब बोलने के लिए खड़े हुए, तो पहला वाक्य उन्होंने यही कहा – गुरु, पिता और माता की बात को बिना विचारे ही मान लेना चाहिए –

गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी।
सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी।। २/१७७/३

इस वाक्य को सुनकर पहले जो भरत को सन्देह की दृष्टि से देख रहे थे, वे बोले – अब भूमिका बँध गयी है। राज्य स्वीकार करने का क्या सुन्दर बहाना बना रहे हैं। यह सब पूर्व-नियोजित था। लेकिन जब बात बिल्कुल उल्टी गई, तो लोगों को प्रतीत होने लगा कि भरत तो बड़े महान् सन्त हैं, हम इन्हें समझने में बड़ी भूल कर बैठे थे। इस प्रकार **मिथिला का भी जनमत बदला और अयोध्या का भी और लंका का तो कहना ही क्या?** वहाँ की जनता तो और भी विलक्षण है। लंका में जब हनुमान जी को बाँधकर चारों ओर घुमाया जा रहा

था, तो लंका के जितने नागरिक थे, सब मार्ग के दोनों ओर खड़े थे और हनुमान जी जब उनके सामने से गुजरते थे, तब प्रत्येक राक्षस आकर उन्हें एक लात लगा देता था और उनकी हँसी उड़ाते हुए कहता था – यह चोर है, पकड़ा गया –

मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी ।। ५/२५/६

पर अगले ही क्षण जब हनुमान जी की पूँछ में आग लगाई गई और सारी लंका जलने लगी, तब वे ही लोग ऐसे बदले, और केवल बदले ही नहीं, साथ में कुछ जोड़ भी दिया – हम तो पहले ही कहते थे कि यह बन्दर-रूप धारी कोई देवता है –

हम जो कहा यह कपि नहिं होई ।
बानर रूप धरें सुर कोई ।। ५/२६/४

कब कहा था भाई? यह 'कहने' का क्या अर्थ है? कहा तो कभी था ही नहीं। कह तो रहे थे कि यह चोर है और लात मार रहे थे। परन्तु अब कहते हैं कि हमने तो पहले ही कहा था कि यह कोई देवता है। तो **यह जनमत कब देवता बना देगा और कब चोर, कब लात मार देगा और कब फूल बरसा देगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है ।**

तो फिर किसे महत्त्व दें – साधुमत को या जनमत को? कोई भी बड़ी सरलता से कह सकता है कि जनमत जाय भाँड़ में, आप तो साधु-मत को महत्त्व दीजिए। पर बात इतनी सरल नहीं है। श्रीराम के चरित्र में एक अनोखा तत्त्व है। जब प्रभु रामराज्य की स्थापना करते हैं, तो उनका तत्त्व तो यही है न कि **लोकमत चाहे जितना भी परिवर्तनशील क्यों न हो, उसे महत्त्व दिया जाना चाहिए ।** महत्त्व देने में तत्त्व यही है।

साधुमत गुणदर्शी होता है। साधु का स्वभाव है दूसरों में गुण देखना और साधारण व्यक्ति का स्वभाव है दोष देखना। पर यह तो हमारे लिए बड़े काम की वस्तु हो सकती है। साधु के द्वारा जो गुण-दर्शन है, उससे हमें प्रेरणा मिले और हम उत्साहपूर्वक अपने जीवन में उन गुणों को स्वीकार करें। साधु के गुण-दर्शन का अभिप्राय यह है कि यदि उन्होंने कहा कि आप तो बड़े भले हैं, सज्जन हैं, तो इसे सुनकर आपके मन मे यह बात आनी चाहिए कि जब साधु ऐसा कह रहे हैं तो हमसे कहीं कोई ऐसा कार्य न हो जाय, जो इनकी प्रशंसा के विपरीत हो। गोस्वामी जी समझाते हैं – अरे भाई, लोग तुम्हें हंस कहकर पुकारते हैं और तुमने भी हंस का वेष बना लिया है, तो अब बगुले और कौवे की भाँति आचरण तो मत करो –

करि हंस को बेषु बड़ो सबसो,
तजि दे बक बायस की करनी ।। कविता. ७/३२

इसका अभिप्राय यह है कि साधु ने जो प्रमाण-पत्र दिया, वह सद्गुणों की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है, परन्तु **लोकमत का 'दोष-दर्शन' भी बड़े काम का है ।** क्योंकि साधु तो दोष की ओर दृष्टि डालेगा नहीं, पर व्यक्ति में कमियाँ भी होती हैं। अब लोकमत में यह जो दोष को बढ़ाकर देखने की प्रवृत्ति है, उसका भी सदुपयोग हो सकता है।

शरीर के रक्त आदि की जाँच करनेवाले चिकित्सक क्या करते हैं? जब कोई रोग होता है, तब ये यंत्र के द्वारा रक्त आदि का परीक्षण करते हैं। तब, जो कीटाणु हमें अपने रक्त में दिखाई नहीं देते, वे ही उन्हें न जाने कितने बड़े रूप में दिखाई देते हैं। और जब वे इतने बड़े रूप में उन कीटाणुओं को देखते और हमें बता देते हैं कि हमारे शरीर में अमुक रोग के अमुक कीटाणु हैं, तो हमें खुशी होनी चाहिए। मुझे कई चिकित्सकों ने बताया कि जाँच में यदि कुछ न मिले तो प्रसन्न होने की बात नहीं, बल्कि यदि कीटाणु मिल जाय तो प्रसन्न होना चाहिए कि कम-से-कम रोग तो पकड़ में आ गया।

अब जो शरीर के सन्दर्भ में सत्य है, वही मन के सन्दर्भ में भी सत्य है। यदि कोई हमारे मन की बुराई को बड़े रूप में देख रहा है, तो वह जाने-अनजाने चिकित्सक की ही भूमिका निभा रहा है। चिकित्सक जैसे रोग के कीटाणुओं को बढ़ाकर देखता है, इसी प्रकार लोक हममें दोष देखता है और बढ़ाकर देखता है, तो मानो यह और भी सावधानी की बात है। लोगों को हममें दोष दिखाई दे रहा है, बड़े रूप में दिखाई दे रहा है।

लोगों को हममें जो बुराई दीख रही है, हम उसे दूर करने की चेष्टा करें। मान लीजिए कि लोग झूठी बात कह रहे हैं, तो इसका अर्थ है कि लोगों के मन में झूठा सन्देह है, तो उसे दूर कीजिए, उनकी बुराई मिटाइए। दोनों तरह से – यदि सचमुच ही हमारे जीवन में बुराई है तो उसे मिटाएँ और यदि उनके मन में सन्देह या ईर्ष्या की बुराई आ गई हो तो उसे भी दूर करने की चेष्टा करें। **लोकमत की भी उपेक्षा न हो ।** गुरु वशिष्ठ ने भगवान से यही कहा – राम, तुम्हें तो साधुमत और लोकमत दोनों को मिलाना है। बड़ा कठिन कार्य था।

वैसे ही श्रीराम ने भी वशिष्ठ जी से कहा – **राजनीति और वेद की दूरी को मिटाना चाहिए ।** राजनीति और वेद की दूरी तो स्पष्ट ही है। पग पग पर दिखाई देती है। वेद का दृष्टिकोण परमार्थ सत्य का उद्‌घाटन है और राजनीति व्यावहारिक सत्ता के लाभ का विषय है। दोनों में दूरी है। वेद कहते हैं – प्रेय का परित्याग करके श्रेय को प्राप्त करो। राजनीति तो श्रेय की बात ही नहीं करता, वह तो प्रेय की बात ही कर सकता है। पर यदि विचार करके देखें, तो राजनीति और वेदनीति की दूरी भी मिटायी जानी चाहिए। मिटाए जाने का तात्पर्य यह है कि दोनों के लक्ष्य पर दृष्टि डालें, अन्त में दोनो का लक्ष्य क्या है? राजनीति का भी लक्ष्य है व्यक्ति को सुखी बनाना और वेद का लक्ष्य भी वही है। वह भी व्यक्ति को सुखी बनाना चाहता है। **अन्तर बस इतना है कि राजनीति की दृष्टि तात्कालिक है और वेद की सार्वकालिक है ।** वेद की दृष्टि सदा के लिए है और राजनीति मात्र तात्कालिक लाभ ही देखती है।

और जीवन में दोनों का ही महत्त्व है। सिर में दर्द हो रहा है, तो 'क्यों हो रहा है' – इसका भी महत्त्व है, पर यदि केवल इसी पर विचार करने बैठ जायँ, तब तो बेचारा सिरदर्द वाला परेशान हो जाएगा। विचार कब तक चलेगा? अतः कुछ तात्कालिक उपाय भी तो होना चाहिए। तात्पर्य यह कि चाहे आप सिर में ठण्डक लाने के लिए किसी दवा का लेप कर लेते हैं या कोई गोली खा लेते हैं, जिससे थोड़ी देर के लिए आपको सिरदर्द से मुक्ति मिल जाती है। इसके बाद यदि आप बुद्धिमान हैं तो इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होते, बल्कि गहराई में जाकर पता लगाते हैं कि हमें जो सिरदर्द हो रहा है, वह क्यों हो रहा है? फिर उसके लिए भी दवा करते हैं। वैसे ही राजनीति तो तात्कालिक दवा है। **समस्याओं का तत्काल समाधान चाहिए, तो वह देती है राजनीति और समस्याओं के मूल कारण पर विचार करके उसे मिटाने के उपायों का सन्देश देता है वेद**। अतः यदि विचार करके देखें तो जैसे शरीर के सन्दर्भ में, वैसे ही मन के सन्दर्भ में भी दोनों की उपयोगिता है। राजनीति को न तो वेद का विरोधी होना चाहिए और न वेद को राजनीति का। **साधुमत को न तो लोकमत का विरोधी होना चाहिए और न लोकमत को साधुमत का**। भगवान राम के चरित्र में इन दोनों का सुन्दर सामंजस्य दिखलाई देता है।

सेतु-निर्माण की इस भूमिका में भगवान राम के चरित्र की एक विशेषता ध्यान देने योग्य है। चित्रकूट में गुरु वशिष्ठ ने जब श्रीराम से यही सामंजस्य करने को कहा, तो उन्होंने भरत जी की ओर देखा और कहा – भरत, तुम्हारे सहयोग के बिना मैं अकेले इस सेतु का निर्माण नहीं कर सकता। क्या भगवान की इस भूमिका पर आपने ध्यान दिया? **श्रीराम स्वयं तो सेतु बनाते ही हैं, पर साथ ही दूसरों से भी बनवाते हैं।**

यही तो समुद्र में भी हुआ। पहले उन्होंने बन्दरों द्वारा पुल बनवाया और बाद में उन्होंने स्वयं भी पुल बनाया। भगवान यहाँ मानो एक सूत्र देते हैं कि हम समाज में सेतु का निर्माण करें, दूरी को दूर करें। और उसके साथ ही भगवान भी अपनी कृपा और महिमा के द्वारा सेतु का निर्माण करके उसी का एक दूसरा पक्ष प्रस्तुत करते हैं। श्रीराम के सन्दर्भ में यह दूसरा सूत्र देते हुए गुरु वशिष्ठ ने कहा – नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ को श्रीराम से बढ़कर कोई नहीं जानता –

नीति प्रीति परमारथ स्वारथु।
कोउ न राम सम जान जथारथु ।। २/२५४/५

नीति व प्रीति और स्वार्थ व परमार्थ परस्पर विरोधी हैं। पर श्री राघवेन्द्र इनके – साधुमत व लोकमत और राजनीति व वेदनीति के बीच सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं –

करब साधुमत लोकमत
नृपनय निगम निचोरि ।। २/२५८

अंगद को राजदूत बनाकर भेजना क्या है? यह नीति है या प्रीति? यह स्वार्थ है या परमार्थ? यह साधुमत है या लोकमत या राजनीति? सचमुच ही यह संवाद ऐसा है कि यदि आप इसे मनोरंजन की दृष्टि से न पढ़ें, तो भी स्पष्ट दिखाई देगा कि इसमें श्री राघवेन्द्र की महानतम नीति है और महानतम प्रीति भी है। उनका यह महानतम परमार्थ है और महानतम स्वार्थ भी है। अंगद को राजदूत बनाकर भेजने में यही सूत्र सामने आता है। यद्यपि भगवान स्वयं निर्णय लेने में पूरी तरह सक्षम और स्वतन्त्र हैं। ईश्वर के रूप में भी वे सर्वज्ञ हैं और व्यक्ति के रूप में भी वे अंगद की योग्यताओं से भलीभाँति परिचित हैं, तो भी जब भगवान ने अपने मंत्रिमण्डल के समक्ष यह प्रश्न रखा कि राजदूत बनाकर किसे भेजा जाय, तो इसमें उनका यही सामंजस्य सूत्र प्रकट होता है।

इसी प्रकार जब विभीषण जी शरण में आते हैं, तब भी भगवान इस प्रश्न को मंत्रिमण्डल के समक्ष रखते हैं कि इन्हें शरण में लें या नहीं? इसका तात्त्विक पक्ष यह है कि भगवान विभीषण को भी शरण में लेंगे, अंगद को भी राजदूत बनायेंगे, पर उनका अभिप्राय यह है कि नीति की दृष्टि से मंत्रियों के मत को भी महत्त्व देना चाहिए। यहाँ मैं इतनी बड़ी सेना लेकर आया हूँ, मंत्रियों को लेकर आया हूँ और यदि सारे निर्णय मैं ही लेता हूँ, तो इसका अर्थ है कि मैंने नीति और लोकमत को महत्त्व नहीं दिया। इस प्रकार भगवान श्रीराम के चरित्र में हमें यह सामंजस्य दीख पड़ता है। वे मन-ही-मन जानते हैं कि विभीषण को शरण में लेना हर तरह से हितकर है, तथापि वे पूछते हैं। इसे आप भगवान राम की रणनीति कहिए या उनका सामाजिक दृष्टिकोण कह लीजिए। विभीषण को शरण में लेने का सुग्रीव ने विरोध किया और इतना ही नहीं उन्होंने तो यहाँ तक कहा – प्रभो, राक्षसों की माया बड़ी विचित्र होती है, न

पुरखों की थाती

अल्पादपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका
तृणैर्गुणत्वम् आपन्नैः बध्यन्ते मत्तदन्तिनः।।

– छोटी छोटी वस्तुओं की एकता बड़े कार्यों को सिद्ध करती है, जैसे कि घास के तिनकों को जोड़कर बनी हुई रस्सी से मतवाले हाथी तक को बाँधा जा सकता है।

अगाध-जल-संचारी न गर्वं याति रोहितः।
अङ्गुष्ठ-जल-मात्रेण शफरी फरफरायते।।

– अगाध जल में विचरनेवाली रोहू मछली कोई दिखावा नहीं करती, पर छोटी छोटी शफरी नाम की मछलियाँ अंगूठे-भर पानी में भी बड़ा उछल-कूद मचाती है।

जाने यह दुष्ट मायावी क्यों आया है, सम्भव है कि हमारा भेद लेने आया हो, अत: इसे तो बन्दी बनाकर रख लीजिए –

जानि न जाइ निसाचर माया ।
कामरूप केहि कारन आया ।।
भेद हमार लेन सठ आवा ।
राखिअ बाँधि मोहि अस भावा ।। ५/४३/६-७

परन्तु भगवान ने कैसा सुन्दर सेतु बनाया? नीति और प्रीति के बीच पुल बना दिया। दूसरा कोई होता तो सुग्रीव को बुरी तरह फटकारता। सुग्रीव ने तो कहा था – महाराज, यह रावण का भाई है, इस पर विश्वास मत कीजिए। भगवान कटुभाषी होते, तो व्यंग्य कर सकते थे – जब मैंने बालि के भाई पर विश्वास कर लिया, तो रावण के भाई पर क्यों नहीं? कह सकते थे – पहले तुम अपनी ओर तो देखो। बात यही तो थी कि सुग्रीव अपनी ओर नहीं देख रहे थे और विरोध किए जा रहे थे। पर भगवान ने ऐसा कुछ नहीं किया। भगवान राम का नीति-सूत्र क्या है? वे तत्काल कहते हैं – वाह, तुम कितने योग्य प्रधानमंत्री हो, कितने अच्छे राजनीतिज्ञ हो। प्रभु के मुँह से यही वाक्य निकला – नीति की दृष्टि से तुमने बहुत बड़ी बात कही। लेकिन फिर धीरे से अपनी बात कह देते हैं – "परन्तु मेरे भी कुछ आदर्श हैं। मैंने तो प्रतिज्ञा की है कि यदि कोई संकट में पड़कर मेरे पास शरण लेने आएगा, तो मैं उसकी रक्षा करूँगा –

सखा नीति तुम नीकि बिचारी ।
मम पन सरनागत भयहारी ।। ५/४३/८

अत: भाई, अब तो ऐसा कोई मार्ग ढूँढ़ निकालना होगा, जिससे तुम्हारी नीति भी रहे और मेरी प्रीति भी।" यही सामंजस्य है। इसमें सुग्रीव के मन में भी प्रसन्नता रहती है कि मेरे मत को भी तिरस्कार या उपेक्षा की दृष्टि से न देखकर इतना सम्मान दिया जा रहा है। प्रभु लोगों के सामने सुग्रीव की प्रशंसा भी कर रहे हैं और अन्ततोगत्वा होता वही है जो श्रीराम को अभीष्ट है। पर उसमें समन्वय का ही भाव है।

अंगद के सन्दर्भ में भी, जब श्री राघवेन्द्र स्वयं उनका चुनाव न करके उसे मंत्रिमण्डल को सौंप देते हैं, तो प्रीति की दृष्टि से वे अंगद का चुनाव तो पहले ही कर चुके हैं, पर नीति की दृष्टि से वे सोचते हैं कि सुग्रीव पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी? सुग्रीव इसे पसन्द करेंगे या नहीं? फिर मंत्रिमण्डल भी बना हुआ है। राजनीति के अनुसार तो मुझे सबके मत से काम करना चाहिए। इसलिए भगवान ने जान-बूझकर इसे मंत्रिमण्डल के सामने रख दिया, पर जहाँ तक ऐकान्तिक बात थी, वहाँ भगवान राम ने प्रीति को महत्त्व दिया।

सीताजी के पास दूत भेजते समय सूत्र क्या है? यह बड़ी अच्छी बात है। पति-पत्नी के बीच राजनीति की क्या आवश्यकता है? वहाँ तो शुद्ध प्रेम की भावना है। वहाँ दूत के चुनाव में प्रभु किसी से नहीं पूछते कि सीताजी के पास किसे दूत बनाकर भेजूँ? पर जब रावण से युद्ध करना है, तब स्वयं निर्णय करने में समर्थ होते हुए भी वे स्वयं निर्णय नहीं लेते। भगवान मंत्रिमण्डल से कहते हैं – आप ही लोग बताइए।

श्रीराम और रावण में बस यही अन्तर है। रावण में यह सामंजस्य नहीं था। उसके सामने यदि कोई युवा बोल देता, तो भी वह फटकार देता था और यदि कोई वृद्ध सज्जन बोल दे, तब तो वह न जाने उसे क्या कह डाले। रामायण में रावण के दोनों चित्र आते हैं। उसके मंत्री माल्यवान बूढ़े थे, न जाने कब से मंत्री थे –

रावन मातु पिता मंत्रीवर ।। ६/४८/५

वे बोले – आप सीताजी को लौटा दीजिए। रावण ने चिढ़कर कहा – बुड्ढे, तेरा दिमाग खराब हो गया है, जा तुझे बूढ़ा समझकर छोड़ देता हूँ, नहीं तो तुझे मार ही डालता। इसे मेरी कृपा ही समझ कि तेरे इतने कहने के बाद भी मैं तेरा सिर नहीं कटवा रहा हूँ –

बूढ़ भएसि न त मरतेउँ तोही । ६/४९/३

तो बूढ़े माल्यवान के प्रति रावण का ऐसा व्यवहार है। और रावण के जवान बेटे प्रहस्त ने रावण के सामने बीचवाला मार्ग रखा। वह बोला – महाराज, आप सीता को ले आए हैं, यह उचित नही हुआ; अब ऐसा कीजिए कि सीताजी को लौटा दीजिए। और साथ ही उसने एक वाक्य जोड़ दिया कि हम कोई डर के मारे ऐसा नहीं कर रहे हैं – यदि ये पत्नी को पाकर लौट जायेंगे, तो हमें युद्ध करने की जरूरत नहीं होगी। पर यदि इसके बाद भी वे युद्ध के लिए प्रस्तुत हैं, तो विश्वास मानिए कि हम युद्ध के लिए सन्नद्ध हैं, पीछे नहीं हटेंगे –

नारि पाइ फिरि जाहिं जौं तौ न बढ़ाइअ रारि ।
नाहि त सन्मुख समर महि तात करिअ हठ मारि।। ६/९

प्रहस्त का प्रस्ताव बड़ा सन्तुलित था, पर रावण तो उसे भी कसकर फटकारता है – तू क्या मेरा बेटा है? तेरे जैसे पुत्र को पाने से तो निष्पुत्र रहना ही अच्छा था। कहाँ तो मेरे यहाँ की वीर परम्परा और कहाँ तू ऐसी कायरता की बात करता है –

अबहीं ते उर संसय होई ।
बेनुमूल सुत भयहू घमोई ।। ६/१०/३

परिणाम क्या हुआ? माल्यवान बिगड़कर समाज से चले जाते हैं और रावण को कठोर शब्द कहते हुए प्रहस्त भी –

सुनि पितु गिरा परुष अति घोरा ।
चला भवन कहि बचन कठोरा ।। ६/९/४

इस प्रकार रावण अपने अभिमान के कारण न तो बूढ़ो का सम्मान करता है और न युवकों का।

❖ (क्रमश:) ❖

आध्यात्मिक जीवन : क्यों और कैसे (उत्तरार्ध)

स्वामी सत्यरूपानन्द

शुभस्य शीघ्रम्

प्रश्न उठता है कि जब तक हमें अपने इस चैतन्य स्वरूप का अनुभव नहीं हुआ तब तक हम क्या करें? अपने चैतन्य स्वरूप की अनुभूति की दिशा में कौन से कदम उठाएँ?

उसका सीधा और सरल उत्तर यह है कि हम अपने विवेक का आदर करना सीखें, अपने विवेक की ध्वनि को सुनें। हमारा विवेक जिसे अनुचित व अशुभ कहता है, उसे तत्काल त्याग दें तथा जिसे उचित और शुभ कहता है, उसका आचरण तत्काल प्रारम्भ कर दें। इस प्रकार आचरण करने पर हमारे हृदय में ज्ञान का दीप प्रजवलित हो उठेगा। उस अन्तर्ज्ञान-दीप के प्रकाश में हम अपने जीवन का आध्यात्मिक पथ स्पष्ट-से-स्पष्टतर देख पाएँगे। उस प्रकाश में मार्ग में आने वाली बाधाएँ भी स्पष्ट दीख पड़ेंगी। इतना ही नहीं, उन बाधाओं को दूर करने का उपाय भी स्पष्ट दीख पड़ेगा तथा उन बाधाओं को दूर करने के साधन भी अनायास जुट जाएँगे। हमें बस, इतना ही करना है कि जिसे हम उचित और शुभ समझते हैं, उसका आचरण तत्काल प्रारम्भ कर दें – **शुभस्य शीघ्रम्।**

जागते रहो

शुभस्य शीघ्रम् यह सिद्धान्त तो ठीक है, किन्तु एक व्यावहारिक प्रश्न आता है कि जीवन में अनुचित और अशुभ प्रसंग भी तो उपस्थित होते हैं और प्राय: वे प्रसंग हमसे अनुचित और अशुभ कर्म इस प्रकार करवा लेते हैं कि मानो हम उनके दास हों या मूर्च्छा में हों।

वस्तुत: हम पिछले संस्कारों के कारण मूर्छित-सी अवस्था में ही रहते हैं तथा यन्त्रवत् अनुचित और अशुभ कर्म कर जाते हैं।

इससे बचने का उपाय क्या है? उपाय है – आत्मनिरीक्षण और सतत जागृति। सावधान होकर हमें अपने मन पर सजग दृष्टि रखने का अभ्यास करना होगा तथा जागृत रहकर यह देखना होगा कि हमारे मन में अनुचित और अशुभ चिन्तन तो नहीं उठ रहा है, कल्पनाएँ तो नहीं पनप रही हैं।

यदि ऐसा लगे कि मन में अशुभ और अनुचित चिन्तन तो नहीं चल रहा है। इसी प्रकार कल्पनाएँ तो नहीं उठ रही हैं, इन्हें देखना, सतत जागृत रहने पर ही सम्भव है। ज्योंहि हमें ज्ञात हो कि ऐसा हो रहा है, तो तत्काल विवेक और विचार द्वारा उस अशुभ चिन्तन और कल्पना को मन से निकाल फेंकना चाहिए। सत्संग और प्रार्थना इस दिशा में हमारी बड़ी सहायता कर सकते हैं। किन्तु प्राथमिक आवश्यकता है – सतत सावधान और जागृत रहने की।

उत्तिष्ठत जाग्रत सततं युध्यस्व – इस क्षेत्र में यही हमारा महामन्त्र होना चाहिए।

यह तो सिक्के का एक पहलू है। सिक्के का दूसरा पहलू है – शुभ एवं उचित विचारों एवं संकल्पों के उठते ही तत्काल उन्हें क्रियान्वित करना, जैसा कि ऊपर कहा गया है।

पाथेय

उपरोक्त हुई चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक जीवन एक यात्रा है। अब प्रश्न आता है कि इस यात्रा का पाथेय क्या है? सरल शब्दों में कहना हो तो सत्संग, स्वाध्याय, उपासना और प्रार्थना ही आध्यात्मिक पथ के पाथेय हैं।

प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव और उसकी रुचि भिन्न भिन्न होती है। अत: साधक को अपनी रुचि के अनुसार साधना का पथ एवं क्रम निर्धारित करना चाहिए। यदि उसे अपनी साधना का पथ स्पष्ट प्रतीत न हो रहा हो, तो यह देखना चाहिए कि संसार के विभिन्न महापुरुषों और उनके उपदेशों में किनकी ओर उसकी रुचि है अथवा उसके मन का झुकाव है। जिस महापुरुष का जीवन और उपदेश रुचिकर लगें, उनके विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। उनके जीवन और उपदेशों पर चिन्तन करना चाहिए। ऐसा करने पर उसे अपनी रुचि का साधन-मार्ग ढूँढ़ निकालने में बड़ी सहायता मिलेगी। महाभारत में कहा भी है – **येन महाजनः गतः सः पन्थाः** – यही आध्यात्मिक पथ का पाथेय है।

अन्तर्यात्रा की ओर बढ़ते कदम

हमने यह देखा था कि बाहर से भीतर की ओर चलने वाली यात्रा है – अन्तर्यात्रा। हम यह कैसे जानें कि हम 'पर' से हटकर 'स्व' की ओर चल रहे हैं, बढ़ रहे हैं। इसका पहला लक्षण यह है कि हम अपने दैनन्दिन जीवन और कार्यों के मध्य थोड़ा समय निकालकर अपने स्वयं के विषय में सोचना प्रारम्भ करते हैं कि इस आपा-धापी और ऊहा-पोह के बीच मैं कहाँ हूँ? मैंने क्या पाया और क्या खोया? सारी दौड़-धूप और खोज-बीन बाहर की दुनिया के सम्बन्ध में ही हो रही है। क्या कभी मैंने क्षण भर ठहर कर सोचा है कि मेरे भीतर क्या हो रहा है? बाहर की इस दौड़-धूप और ऊहा-पोह से मेरा क्या सम्बन्ध है? मुझे क्या मिला?

यदि मेरे मन में ऐसे विचार आते हैं और मैं थोड़ी देर के लिए ठहर कर अपने भीतर झाँकने का प्रयत्न करता हूँ, तो समझ लेना चाहिए कि मैंने अन्तर्यात्रा की ओर कदम रखा है।

बदलते मूल्य बोध

ज्योंही यह अन्तर्यात्रा प्रारम्भ होती है, त्योंही हम यह

देखने लगते हैं कि हमारे भीतर मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन हो रहा है। आज तक बाहर की दुनिया की जो चीजें बड़ी प्रिय और मूल्यवान लगती थीं, आज वे उतनी प्रिय नहीं लग रही हैं, उतनी मूल्यवान नहीं लग रही हैं। यदा-कदा तो ऐसा भी लगता है कि बाहर की इन चीजों में क्या रखा है? इनका कुछ मूल्य भी है या नहीं?

आशा की किरण

यह पुनर्मूल्यांकन साधक के जीवन में एक द्वन्द्व, सन्देह और संकट की घड़ी होती है। बाहर की चीजें अल्प-मूल्य और थोथी-सी लगने लगती हैं, किन्तु भीतर के मूल्यवान रत्नों की कोई खबर नहीं मिलती, कोई झलक नहीं मिलती। जो हाथ में था, वह छूटा-सा जा रहा है। दूसरी ओर कुछ मिल नहीं पा रहा है। सब खाली-खाली-सा लगता है। ऐसा लगने लगता है – **'माया मिली न राम।'**

प्रत्येक सच्चे साधक के जीवन में यह संकट की घड़ी होती है। उसे लगता है पीछे लौट चलूँ। किन्तु, तभी बाहर की वस्तुओं का थोंथापन, अलोनापन उसकी आँखों के सामने आ जाता है और तब उसे लगता है – लौटना मूर्खता होगी, व्यर्थ होगा। दूसरी ओर अन्तर्यात्रा में सब कुछ खाली और सूना दीख पड़ता है।

यही वह समय है, जब साधक को धैर्य और साहस की लगन और अध्यवसाय की पूँजी लेकर निरन्तर अन्तर्यात्रा के सामयिक निराशामय पथ पर आगे बढ़ना होता है। ऐसे समय में अपने पूर्व के साधकों की यात्रा का वर्णन, स्मरण, उनके संघर्षों और ऊहा-पोहों का श्रवण-मनन साधक के लिए बड़ा सहायक होता है। सौभाग्य से यदि कोई ऐसा साधक मिल जाय, जिसने अपनी अन्तर्यात्रा के इन बीहड़ पथों को पार कर भीतरी रत्नों का प्रकाश देख लिया है या उनकी एक झलक भी पा लिया है, तो ऐसे साधक का सत्संग इस नव-पथिक को उत्साहित और गतिशील कर देता है।

काँटो पर तो चलना ही होगा

सोना जब खान से निकाला जाता है, तब उसमें दूसरी और भी बहुत चीजें मिली होती हैं। शुद्ध सोना प्राप्त करने हेतु उसे अग्नि में तपाया जाता है। तब कहीं सोने के विजातीय द्रव्य नष्ट होते हैं और असली सोना निखर आता है।

उसी प्रकार हमारे अपने 'स्व'-रूप में आसक्ति, कामना-वासना, आशा-आकांक्षा, संसार की भोग-इच्छाएँ आदि के विजातीय द्रव्य मिल गए हैं। इसी कारण प्रारम्भ में अन्तर्यात्रा में हमें विजातीय द्रव्य ही दीख पड़ते हैं। उन्हीं से हमारी भेंट होती है। **तपः किल इदं तद् अवाप्ति साधनम् (कुमारसम्भव-५/६४)** – तप ही उस स्वरूप की प्राप्ति का साधन है।

अतः आसक्ति, कामना-वासनाओं आदि के विजातीय द्रव्यों को दूर कर 'स्व' स्वरूप के दर्शन करने, उसमें प्रतिष्ठित होने के लिए हमें तपस्या करनी होगी। तप की अग्नि द्वारा ही ये विजातीय द्रव्य दूर होंगे, भस्म होंगे।

अतः हमें प्रारम्भ में ही यह समझ लेना होगा कि आध्यात्मिक जीवन का मार्ग निष्कण्टक और सुखपूर्ण नहीं होता है। सुख तो गन्तव्य पर पहुँचने पर ही मिलता है। सुविधापूर्ण आध्यात्मिक यात्रा विरोधाभास मात्र है।

किन्तु हमें डरने या निराश होने की आवश्यकता नहीं है। संसार का अनुभव हमें यह बताता है कि प्रारम्भ में सुखद एवं निष्कण्टक लगने वाली सांसारिक यात्रा (बाहर की यात्रा) कुछ ही दिनों में दुखद एवं कण्टकाकीर्ण होती जाती है, जो निरन्तर अधिक-से-अधिक दुख-ताप और शूल ही देनेवाली होती है तथा अन्त में हमें अपने 'स्व'-भाव से अत्यन्त दूर हटाकर अज्ञान के अन्धकार में ही झोंक देती है।

मनुष्य तू महान् है

दूसरी ओर अन्तर्यात्रा – आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ में अवश्य ही कठिन और कष्टपूर्ण प्रतीत होती है, किन्तु ज्यों ज्यों आध्यात्मिक यात्री इस मार्ग पर बढ़ता जाता है, त्यों त्यों ही उसकी कठिनाइयाँ क्रमशः कम होती जाती हैं और यात्रा-पथ सहज, सुखकर और सुन्दर होता जाता है तथा एक दिन हमें परम ज्ञान और परम आनन्द के परम पद पर प्रतिष्ठित कर देता है।

इसलिए प्रारम्भ में साधक को घबराने या निराश होने की आवश्यकता नहीं है।

सभी महापुरुषों के जीवन-अनुभव हमें यह बताते हैं कि इन सभी के जीवन में सामयिक पराजय, हताशा एवं असफलता के अवसर आए थे। किन्तु सभी ने निरपवाद रूप से अपनी ही आन्तरिक शक्ति के द्वारा इन पर विजय पाई। यह ठीक है कि उनकी आन्तरिक शक्ति जागृत एवं उद्बुद्ध करने में अन्य किसी साधक या महापुरुष ने उत्तेजना प्रदान की हो अथवा झकझोर कर उन्हें अपनी आन्तरिक शक्ति को जागृत करने का आह्वान किया हो, परन्तु सामयिक पराजय, हताशा आदि को सभी महापुरुषों ने अपनी ही आन्तरिक शक्ति से जीता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर अदम्य, अजेय शक्ति विद्यमान है, किन्तु वह शक्ति सदैव जागृत और क्रियाशील नही रहती है। वह सुषुप्त एवं निष्क्रिय-सी अवस्थित रहती है। उसे जागृत एवं क्रियाशील करने के लिए व्यक्ति को साधना करनी पड़ती है।

इस साधना का प्रारम्भ ही इस बात से होता है कि व्यक्ति यह दृढ़ विश्वास करने लगता है कि उसके भीतर महान् अपराजेय, अदम्य शक्ति विद्यमान है। उसे केवल इस शक्ति को जागृत कर उसका सद् उपयोग भर कर लेना है।

अपने भीतर की महान् शक्ति को भूले रहने का पहला लक्षण है – मनुष्य के हृदय की दुर्बलता। अर्जुन जैसा महान् शक्तिशाली व्यक्ति भी कुछ समय के लिए अपनी महान शक्ति को भूल बैठा था तथा इस कारण वह भय और निराशा के वशीभूत हो गया था। और हम सभी जानते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को फटकारते हुए यही कहा था कि अपने हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को त्याग, कमर कसकर युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ। भगवान श्रीकृष्ण के उपदेश से अर्जुन को अपने भीतर की महान् शक्ति का पुन: स्मरण हो आया तथा अन्तत: वे विजयी हुए।

जो शक्ति अर्जुन के भीतर विद्यमान थी, वही शक्ति प्रत्येक मनुष्य के भीतर आज भी विद्यमान है। भगवान कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए उपदेश भी विद्यमान हैं। प्रत्येक साधक को उन उपदेशों पर विश्वास करके अपने भीतर की शक्ति को जागृत करने का प्रयत्न करना होगा।

अपने भीतर देखें

सन्त कबीर की एक साखी है –

जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।
मैं बपुरा बूड़न डरा रहा किनारे बैठ।।

हमने देखा कि अपनी सोयी हुई शक्ति को जागृत करने के लिए पहली शर्त है यह विश्वास रखना कि हमारे भीतर महान् शक्ति विराजमाम है।

अपनी अन्तर्निहित शक्ति को जगाने की दूसरी शर्त है – अपने भीतर देखना। इस शक्ति को हम कहीं बाहर नहीं ढूँढ़ पाएँगे, इसलिए कि वह बाहर नहीं हमारे भीतर ही है।

भीतर देखने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने चौबीस घण्टे के जीवन में अपने लिए आधे घण्टे, घण्टेभर का समय अवश्य निकालें, जब हम बिल्कुल अकेले और एकान्त में रहें। तथा चुपचाप बैठकर अपने मन में उठने वाले विचारों को निष्पक्ष होकर देखते रहें। मन में अच्छे या बुरे जो भी विचार आवें, उन्हें एक साक्षी के समान केवल देखते रहें।

इसके पश्चात् अच्छे और बुरे विचारों और भावों को अलग-अलग दो भागों में बाँट लें। आवश्यक प्रतीत हो तो किसी डायरी आदि में लिखकर उनका विभाजन कर लें।

इतना कर लेने के पश्चात् अब उन भावों और विचारों का मूल्यांकन करना प्रारम्भ करें। यह देखें कि ईश्वर-प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार के लक्ष्य की प्राप्ति में कौन से भाव या विचार साधक या बाधक हैं। सर्वप्रथम जो भाव और विचार बाधक प्रतीत हों, उन्हें तत्काल त्यागने का दृढ़ संकल्प करें एवं त्याग दें। उसी प्रकार जो भाव, विचार लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक प्रतीत हों, उन्हें पुष्ट करें तथा उन्हें अपने आचरण में लाएँ।

सुनने या पढ़ने में यह प्रक्रिया जितनी सहज और सरल लगती है, वस्तुत: वह उतनी सहज और सरल नहीं है। पहले पहल किसी एकान्त स्थान में अकेले बैठकर, आँख मूँदकर, अपने विचारों, भावों को देखना, चाहे वह पाँच मिनट के लिए ही क्यों न हो, बड़ा कठिन प्रतीत होता है। हमारा मन हमें बैठने नहीं देता। हम घबड़ा या भयभीत हो जाते हैं।

ऐसे समय में अत्यन्त धैर्य, साहस और दृढ़-संकल्प की आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में किसी भी प्रकार विचलित न होकर हमें निष्ठा पूर्वक अपनी आत्मनिरीक्षण की साधना में लगे रहना चाहिए। अध्यवसाय, निरन्तर दीर्घकालीन अध्यवसाय, यही साधना की सफलता का रहस्य है।

तेरी बनत बनत बनि जाई

अन्तर्निरीक्षण या अपने भीतर देखने की साधना की एक बहुत बड़ी बाधा यह है कि हम स्वयं के प्रति निष्पक्ष और निर्मम नहीं हो पाते। हमारा मन हमारे दोषों को हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व के घिनौने पक्षों को या तो देखना नहीं चाहता या देखने पर भी उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहता। अपने दोषों के लिए स्वयं उत्तरदायी नहीं होना चाहता। ऐसे समय में हमें गुरुजनों का या हमसे अधिक उन्नत साधकों का संग करना चाहिए। उनसे परामर्श लेना चाहिए तथा उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। ऐसा इसलिए आवश्यक है, क्योंकि हम यह नहीं जानते कि हमारे अचेतन मन में जन्म-जन्मान्तर की कितनी कामनाएँ-वासनाएँ छद्म रूप में छिपी हुई हैं।

फिर भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। यह मार्ग धीरे-धीरे चलने का है। कहा भी है – **शनैः पन्थाः शनैः ग्रन्थाः शनैः पर्वतलङ्घनम्।** वर्तमान में आत्मनिरीक्षण एवं स्व विवेक द्वारा हमें अपने जिन दोषों का भान और ज्ञान हो गया है, उन्हें दूर करने में तत्काल लग जाना चाहिए। तथा उसी प्रकार अपने जिन गुणों का हमें आभास मिला है, उन्हें भी दृढ़ एवं पुष्ट करने का प्रयत्न तत्काल प्रारम्भ कर देना चाहिए। दोषों का वर्जन एवं गुणों का अर्जन साधना का क्रम है, जो सतत चलना चाहिए।

इस प्रकार लगे रहने पर एक दिन हमारा व्यक्तित्व सद्गुण प्रधान हो जाएगा, जिसमें दोष बहुत अल्प एवं गौण हो जाएँगे। गीता की भाषा में हम दैवी सम्पद-सम्पन्न हो जाएँगे और भगवान श्रीकृष्ण ने ही कहा है – **दैवी सम्पद विमोक्षाय** – अर्थात् दैवी-सम्पद्-सम्पन्न होकर हम आत्मसाक्षात्कार या भगवत्-प्राप्ति के पथ पर चलने के योग्य अधिकारी बन जाएँगे तथा एक दिन अपने लक्ष्य को अवश्य ही प्राप्त कर लेंगे।

गुरु बिन कौन सहाय करै

यह सत्य है कि आध्यात्मिक मार्ग पर साधक को स्वयं अकेले ही चलना पड़ता है। साधक में चलने की शक्ति है, लक्ष्य पर पहुँचने की आकांक्षा है तथा दोष-वर्जन एवं गुण-

अर्जन के द्वारा उसने आध्यात्मिक यात्रा की योग्यता भी प्राप्त कर ली है।

किन्तु यहाँ एक मौलिक प्रश्न उपस्थित होता है कि साधक किस मार्ग पर चले? साधना के प्रारम्भ में साधक को मार्ग का ज्ञान नहीं होता है। यदि वह बिना मार्ग-दर्शक के यात्रा प्रारम्भ कर दे, तो इस बात की बहुत अधिक सम्भावना रहती है कि वह ऐसे मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दे, जो उसके योग्य न हो, जो मार्ग बहुत कठिन एवं कण्टकाकीर्ण हो अथवा बहुत लम्बा और घुमावदार हो। ऐसे मार्ग पर साधक यदि बिना मार्ग-दर्शक के अपने अहं की प्रेरणा से ही यात्रा प्रारम्भ कर देता है, तो उसकी अमूल्य शक्ति और योग्यता निरर्थक मार्ग-संचरण में ही समाप्त हो जाती है और उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है।

अत: इस बिन्दु पर साधक को एक योग्य मार्ग-दर्शक की आवश्यकता होती है। ऐसा मार्ग-दर्शक जिसने उस मार्ग पर यात्रा की हो तथा जिसे मार्ग का सम्यक् एवं विस्तृत ज्ञान हो, ऐसे मार्ग-दर्शक को ही गुरु कहा जाता है।

गुरु-करण एवं वरण

अब प्रश्न उठता है – गुरु को कहाँ खोजें? गुरु किसे बनाएँ? सभी महापुरुष कहते हैं, गुरु पाने की प्रथम शर्त है – शिष्य या साधक के मन में गुरु पाने की तीव्र इच्छा, व्याकुलता। यदि साधक हृदय में तड़पन का अनुभव करता है – गुरु कैसे मिले, कहाँ मिले? इसके लिए अत्यन्त व्याकुल हो उठता है, तो यह निश्चित है कि अकल्पनीय एवं अनपेक्षित रूप से साधक को यथासमय गुरु की प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

वस्तुत: सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही गुरु हैं। अत: जब तक साधक को प्रत्यक्ष गुरु की प्राप्ति नहीं हुई है तब तक उसे अन्त:करण पूर्वक व्याकुल होकर भगवान से ही प्रार्थना करनी चाहिए कि प्रभु हमारा मार्ग-दर्शन करो। गुरु रूप में हमारे सामने प्रगट होओ। ऐसी तीव्र प्रार्थना तथा व्याकुलता साधक को गुरु से अवश्य मिला देती है।

दूसरा एक अवान्तर प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है कि जब तक हमें गुरु की प्राप्ति नहीं हुई है तब तक हम किस मार्ग का अनुसरण करें? इसका उत्तर यह है कि साधना के जिस मार्ग पर हमारा विवेक हमें चलने का संकेत देता है, उस मार्ग के बारे में शास्त्रों तथा महापुरुषों के उपदेशों के द्वारा जानकर चलने का प्रयत्न करते रहें। इस प्रकार प्रयत्न करते रहने पर यथासमय साधक को गुरु की प्राप्ति अवश्य हो जाएगी।

चरैवेति चरैवेति

साधक को गुरु की प्राप्ति भी हो गई। गुरुदेव ने मार्ग भी बता दिया, किन्तु चलना तो साधक को ही पड़ेगा। आध्यात्मिक जीवन एवं साधना का प्राण है, यही चलते रहना। आध्यात्मिक जीवन एक ऐसी यात्रा है, जिसकी अनन्त मंजिले हैं। हर मंजिल साधक को और भी आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है, आध्यात्मिक अनुभूति की उच्च-से-उच्चतर मंजिलें उसका आवाहन करती रहती हैं। अत: आध्यात्मिक पथ पर साधक को सतत गतिशील रहना चाहिए। सतत गति और प्रगति में ही आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता है। परमात्मा परम गति है। अत: परम गति से मिलने के लिए, परम गति से ऐक्य बोध करने के लिए साधक को भी परम गतिवान होना पड़ता है, यही आध्यात्मिक जीवन का शाश्वत नियम है।

पूर्णत्वम् परमं सुखम्

छान्दोग्य उपनिषद् में देवर्षि नारद के प्रश्नों का उत्तर देते हुए ऋषि सनत्कुमार कहते हैं, जो भूमा है, उसी में सुख है – **य: वै भूमा तत् सुखं न अल्पे सुखम् अस्ति** – जो भूमा अर्थात् बड़े-से-बड़ा – जिससे बड़ा और कुछ नहीं है, उसमें प्रतिष्ठित होने पर ही मनुष्य को परम सुख की प्राप्ति होती है। यही आध्यात्मिक साधना की परिपक्वता है।

उस अवस्था में मनुष्य के हृदय की सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, उसके सभी संशय सर्वथा निर्मूल हो जाते हैं और तब वह सब प्रकार की भेद-बुद्धि से रहित होकर परम एकत्व का अनुभव करता है। इस अनुभव को शास्त्र की भाषा में अद्वैत अनुभूति कहते हैं। यही आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता की अनुभूति है। इसे ही उपनिषद् में **पूर्णम् अद: पूर्णम् इदम्** – वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, अर्थात् बाहर-भीतर सर्वत्र पूर्णता ही है। इस स्थिति की अनुभूति ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य एवं परिपूर्णता है। यही परम सुख है। ❑❑❑

जीने की कला (१९)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागो में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

भौतिकता हमें कहाँ ले जाएगी?

उन्नीसवीं सदी के अन्त तक विवाहों का आधार काफी कुछ धार्मिक होता था। स्त्रियाँ वैवाहिक-निष्ठा का सम्मान करती थीं, बच्चों के हित-साधन में रुचि रखती थीं, परिवार के सभी लोगों तथा घर के बड़े-बूढ़ों की सेवा में लगी रहती थीं। पर आज ये सब बातें क्रमश: समाप्त होती जा रही हैं। माता-पिता की जीवन-पद्धति में बदलाव से बच्चों की दशा दुखमय हो गई है। अमेरिकी सरकार द्वारा संचालित इन अनाथालयों में माता-पिता द्वारा परित्यक्त बच्चों की बहुतायत है। माता-पिता के स्नेह या देखभाल से वंचित ये बच्चे ही भविष्य के नागरिक हैं। आज के छात्रों में भी अनुशासनहीनता, अवज्ञा, स्वार्थ-परायणता और हिंसा बढ़ती जा रही है। जिन वृद्ध लोगों को अपने वयस्क पुत्रों का संरक्षण तथा सेवा नहीं मिलती, वे स्वयं को असहाय महसूस करते हैं और अपने जीवन के अपूरणीय सूनेपन को सहने में असमर्थ होकर आत्महत्या कर लेते हैं।

डॉ. किन्से का कहना है, "अमेरिकी महिलाओं में विवाह के पूर्व तथा बाद में यौन-नैतिकता की शिथिलता और तलाक से प्रारम्भ होनेवाले अनेक प्रकार के विचित्र मानसिक रोगों से पीड़ित होने की सम्भावना बनी रहती हैं। आज अमेरिका के अस्पतालों में से मानसिक गड़बड़ियों से ग्रस्त रोगियों की बहुतायत है। वह कौन-सा तत्त्व है, जिसने विवाह-संस्था की पवित्रता, परिवार के स्थायित्व तथा बच्चों की सुरक्षा को संकट में डालकर इस सामाजिक आपदा को जन्म दिया है। इसका मूल क्या है? इसका मूल वह तर्क है, जो शारीरिक सुख के पक्ष में दिया जाता है और जिसके द्वारा जीवन में यौन-सुख को ही सम्पूर्ण महत्त्व प्रदान किया जाता है – वह तर्क जो मातृत्व के महत्त्व को दरकिनार कर देता है – वह धारणा जो पुरुष और नारी को जीवन में प्रतिद्वन्दी मानती है – वह भौतिकवादी दृष्टिकोण जो इस दृश्यमान संसार तथा इन्द्रियों के सुखभोग को ही सर्वोच्च मानता है। इस भौतिकवादी भावना की आग लाखों-करोड़ों नर-नारियों का हृदय दग्ध कर रही है।

यदि विवाहित जीवन का एकमात्र उद्देश्य भोग और स्वार्थ-परायणता ही हो, तो फिर पति-पत्नी के बीच होनेवाले संघर्ष से भला कैसे बचा जा सकता है? इन्द्रिय-सुख में जरा-सी भी कमी प्रतीत होने पर पति या पत्नी उसकी खोज अन्यत्र करने लगते हैं। चूँकि उनका अपना सुख ही उनकी एकमात्र प्रेरणा है, अत: उनके बच्चे अवारा बन जाते हैं।

ऐसे माता-पिता के लिए बच्चे उनके सुख-मौज में बाधक एक अनावश्यक बोझ बन जाते हैं। नवजात शिशु को पास रखना अपनी सुख-सुविधा में बाधक होता है; स्तनपान कराने से भी माँ के शरीर का सौन्दर्य प्रभावित होता है। सार बात यह है कि उन्हें बच्चे को जन्म देना दुख-कष्ट का कारण लगता है। बच्चों का पालन-पोषण उनकी स्वच्छन्दता में बाधक प्रतीत होता है। क्या ऐसे सभी बन्धनों को तोड़ डालना बुद्धिमानी नहीं है? आधुनिक तर्क तो यही कहता है।

स्वेच्छाचारिता की उपासना

आधुनिक दृष्टिकोण का अर्थ है सभी प्रकार के अनुशासन तथा संयम को तिरस्कार के भाव से देखना। इसे 'स्वाधीनता की भावना' कहकर सम्मान दिया जाता है। यह भावना कहती है – "मुझे स्वेच्छापूर्वक आचरण करने दो। तुम मुझसे प्रश्न करने या मेरी स्वतंत्रता में बाधा पहुँचानेवाले कौन होते हो? मैं किसी भी नियम का दास नहीं बनना चाहता। मुझे किसी भी नियम में नहीं बँधना है। मैं पूर्णत: सहज और स्वाभाविक रहना चाहता हूँ।" पर सच्ची स्वाधीनता का अर्थ है – समस्त अवसरों का लाभ उठाते हुए अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना और अपने नियत पथ पर आगे बढ़ते जाना। आत्मसंयम के बिना व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता। मांसपेशियों का विकास चाहनेवालों को नियमित रूप से व्यायाम करना पड़ता है। किसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु एक नियमावली बनाकर उसका पालन करना हमारी स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध-सा प्रतीत हो सकता है, परन्तु अपने हित के लिए इस प्रतिबन्ध की जरूरत है। अपने ऊपर प्रतिबन्ध लगाकर ही हम शारीरिक दुर्बलता से राहत और उत्तम स्वास्थ्य पा सकते हैं। स्वाधीनता के विकास के लिए संयम जरूरी है। प्रकृति सर्वत्र नियमों का अनुसरण करती है। मनुष्य को भी अपने सर्वांगीण विकास के लिए नियमों का पालन करना होगा, ताकि वह अन्ततोगत्वा स्वाधीनता के फल का आस्वादन कर सके। गौतम बुद्ध ने कहा था – "जैसे छतविहीन भवन में वर्षा का जल प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार संयमरहित मन में भी बुरे विचार प्रविष्ट हो जाते हैं।"

काम एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जिसकी मदद से प्रकृति प्रजनन को बढ़ावा देकर विभिन्न प्रजातियों का संरक्षण करती

है। यह कहना कि 'मेरी काम-भावना की पूर्ति होनी चाहिए, परन्तु मैं सन्तानों के लालन-पालन की जिम्मेदारी की परवाह नहीं करता' – प्रकृति के नियम के विरुद्ध आचरण करना है। पिट्रिम ए. सोरोकिन अपनी पुस्तक Sane Sex Order (स्वस्थ यौन-व्यवस्था) में कहते हैं, "यौन-स्वाधीनता को बड़ी कड़ाई से अनुशासित करनेवाले सभ्य समाजों ने सर्वोच्च संस्कृति का विकास किया है। सम्पूर्ण मानव-जाति के इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता, जिसमें कोई समाज एक पति के प्रति निष्ठा रखने की कठोर प्रथा में जन्मी और पली-बढ़ी औरतों के बिना किसी बुद्धिवादी संस्कृति की ओर अग्रसर होने में समर्थ हुआ हो।" विशेषज्ञों का कहना है कि जो नारी अपने स्वार्थवश बच्चों को जन्म देने तथा उनके पालन-पोषण करने के झंझट से छुटकारा पा लेती है, उसे प्रकृति के नियमों के उल्लंघन की कीमत चुकानी होगी। उनका निष्कर्ष है कि स्तनपान न करानेवाली स्त्री में स्तन-कैंसर होने की सम्भावना अधिक रहती है। बच्चों को जन्म देने तथा उनका लालन-पालन न करने से बचनेवाली महिलाओं को मानसिक रोग हो जाते हैं। वे चिड़चिड़े स्वभाव की हो जाती हैं, तुच्छ कारणों से झगड़ती रहती हैं और अन्तत: तलाक तक ले लेती हैं। यह समाज-शास्त्र के विशेषज्ञों का मत है। सामाजिक स्वास्थ्य और यहाँ तक कि समाज का अस्तित्व तथा विकास नर तथा नारी के बीच के सम्बन्धों की पवित्रता पर निर्भर है। यह सर्वजन स्वीकृत विचार है। कोई भी सच्चा वैज्ञानिक या चिन्तक कभी इस सत्य को नकार नहीं सकता।

धर्म और आध्यात्मिक आदर्शों के बिना नर-नारी के बीच के सम्बन्धों की पवित्रता को कायम रख पाना सम्भव नहीं है। एक उच्च आदर्श के प्रति दृढ़ प्रतिबद्धता के बिना हम आपसी समझदारी, सहनशीलता, सहयोग और आदर का जीवन नहीं बिता सकते। महाराष्ट्र के एक महान् देशभक्त साने गुरुजी अपनी 'भारतीय संस्कृति' नामक पुस्तक में विवाह का आदर्श बताते हुए लिखते हैं – "स्त्री और पुरुष के बीच का सम्बन्ध पवित्र प्रेम पर आधारित होना चाहिए। स्त्री किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं समझी जानी चाहिए। स्त्री का अपना मन, हृदय तथा अपनी भावनाएँ होती हैं। उसकी भी आत्मा है, स्वाभिमान है, वह भी सुख-दुख का अनुभव करती है। पुरुषों को यह बात याद रखनी चाहिए। संसार में नारी एक महान् शक्ति है। इस शक्ति के साथ कार्य करनेवाले पुरुषों के पास भी दैवी सद्गुण होने चाहिए। पारिवारिक जीवन का सुख स्त्री-पुरुष के बीच के पवित्र सम्बन्ध पर निर्भर है। उनका सम्बन्ध आत्मसंयम और अनुशासन पर आधारित होना चाहिए। भारतीय पौराणिक कथा में शिव और शक्ति के संयोग की वह सुन्दर कहानी है, जो आत्मसंयम पर आधारित है। इसी से महाबली कार्तिकेय के जन्म का मार्ग प्रशस्त हुआ, जो आगे चलकर देवताओं और मनुष्यों को राक्षसों के चंगुल से छुड़ाते हैं। स्त्री और पुरुष के बीच का पवित्र सम्बन्ध सबल, साहसी और बुद्धिमान सन्तति को जन्म देता है।"

आधुनिकतावादियों का विचार

आधुनिकतावादियों के मतानुसार आदर्शवाद तथा श्रेष्ठता की ये सारी मान्यताएँ निरर्थक हैं, विवेकपूर्ण चिन्तन करनेवाले सभी लोगों को आधुनिक सभ्यता के साथ ही कदम मिलाकर चलने की ओर ही ध्यान देना चाहिए। माता-पिता की स्वेच्छाचारिता का नयी पीढ़ी पर कैसा दुष्प्रभाव होता है, यह बताते हुए अमेरिका की 'टाइम' पत्रिका के जुलाई, १९७७ के अंक में लिखा है – "संयुक्त राज्य अमेरिका में समस्त गम्भीर अपराधों (हत्या, बलात्कार, जानलेवा आक्रमण, डकैती, तस्करी, चोरी, कारचोरी) में से आधे से अधिक १० से १७ वर्ष के बीच के किशोरों द्वारा किये जाते हैं।"

इसके सात वर्षों बाद प्रकाशित एक अन्य रिपोर्ट इन दुखद घटनाओं में वृद्धि दर्शाता है।

अमेरिकी विद्यालयों में होनेवाली हिंसा व हत्याओं के विरुद्ध वहाँ के तत्कालीन राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने एक राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का आह्वान किया था। १९७८ में किये गए एक अध्ययन के अनुसार प्रतिमाह लगभग ३० लाख बच्चे, विशेषतया स्कूल जानेवाले बच्चे शहरों में हिंसक आक्रमण के शिकार हुए। शिक्षकों की अवस्था भी खेदजनक है। महिलाओं को जिन अमानवीय तरीकों से हिंसा का शिकार बनाया जाता है, उसका उल्लेख करने की तो यहाँ आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में द्रुत गति से हो रही उन्नति के बावजूद यह कैसा नैतिक पतन है!

इतिहास की शिक्षाएँ

पुरा काल में परम सत्य या ईश्वर और आध्यात्मिक आदर्शों में विश्वास ही भारतवासियों के उच्च नैतिक मानदण्डों के लिए उत्तरदायी था। आध्यात्मिकता सदैव भारतीय राष्ट्रीय जीवन का मेरुदण्ड रही है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

अतीत काल में विदेशी यात्रियों और पर्यटकों ने भारतीयों की नैतिक उत्कृष्टता के लिए भूरि भूरि प्रशंसा की है। आज के अधिकांश शिक्षित युवकों को इतिहास का कोई बोध नहीं है। उन्हें इन कथनों पर विचार करके इस प्रशंसा का आधार ढूँढ़ लेना चाहिए। लगभग दो हजार वर्षों पूर्व एरियन ने कहा था, "कभी किसी भारतीय के मिथ्यावादी होने की शिकायत सुनने में नहीं आती।" लगभग १५०० वर्षों पूर्व भारत की यात्रा पर आए बौद्ध मतावलम्बी चीनी यात्री ह्वेनसांग ने मगध अंचल की अद्भुत समृद्धि तथा वहाँ के लोगों के उच्च नैतिकता-बोध की बड़ी प्रशंसा की है। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज की भारत यात्रा के समय यहाँ के लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे। संस्कृत

भाषा में 'ताला' शब्द का अर्थबोध करानेवाला कोई शब्द ही नहीं था। मेगस्थनीज ने लिखा, "ये लोग बताते हैं कि इन्होंने कभी अकाल या भूखमरी नहीं देखी। विश्व के अन्य भागों में युद्ध घोषित होने पर सामान्यतया दुश्मन की भूमि को बरबाद कर दिया जाता है, ताकि उसमें कोई फसल न उगाई जा सके। परन्तु इस देश (भारत) में अन्न के उत्पादकों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। उनको कभी कोई हानि नहीं पहुँचाई जाती। पड़ोस में युद्ध छिड़ा होने पर कृषक अपने खेतों में काम करते रहते हैं। एक सैनिक किसी अन्य सैनिक को मार सकता है, परन्तु वह किसी किसान को स्पर्श तक नहीं करता। शत्रु की वस्तुओं में कभी आग नहीं लगाई जाती; किसी पेड़ को काटा नहीं जाता।"

खोजयात्री मार्कोपोलो ने कहा था, "भारतीय व्यापारी संसार में सर्वोत्तम और सर्वाधिक सत्यनिष्ठ हैं। किसी भी कारण से वे कभी झूठ नहीं बोलते।" ग्यारहवीं शताब्दी के मुसलमान यात्री इद्रीसी ने कहा था, "भारतवासी अपनी नैतिक सत्यनिष्ठा और ईमानदारी के लिए विख्यात हैं।"

३०० वर्षों पूर्व भारत आनेवाले पुर्तगालियों ने कहा था, "हिन्दू लोग बिना घोषणा किए युद्ध नहीं करते। वे वीर हैं, पर शत्रु के प्रति घृणाभाव नहीं रखते। युद्ध-विराम के दौरान वे एक ही नदी में स्नान और पान-सुपारी का आदान-प्रदान करते हैं। वे अपमान का जीवन मृत्यु से भी बदतर मानते हैं।

"पुर्तगाली अधिकारी भारतीय युद्धबन्दियों को उनके दूरस्थ गृहनगरों में फिरौती लाने के लिए भेजा करते थे। कुछ वह फिरौती लाने में समर्थ हो पाते थे और कुछ नहीं। उनके लिए भाग निकलने के सारे मौके उपलब्ध थे, परन्तु अपनी सत्य-निष्ठा के कारण और व्यक्ति को वचन-भंग या मिथ्या भाषण नहीं करना चाहिए – इस भाव से प्रेरित होकर, वे धर्मान्तरण या मृत्यु-दण्ड का जोखिम उठाकर भी लौट आया करते थे। इन लोगों की सत्यनिष्ठा और नैतिक बल को देखकर पुर्तगाली लोग भी चकित रह जाते थे।"

नैतिक उत्साह

भारतीय राष्ट्रीय कौंसिल के तत्कालीन अध्यक्ष अल्फ्रेड वेब ने कहा था, "सिलाई मशीनों के आपूर्ति-कर्ताओं के एजेण्टों के अनुभव के अनुसार अन्य देशों में कर्जदारों में से १०% उसका भुगतान नहीं करते थे। भारत में ऐसे लोगों की संख्या केवल १% थी। और वह १% भी भारत में रहनेवाले यूरोपियन लोगों के कारण थी। भारतीय दर्जी ऋण चुकाने में सजग और तत्पर रहते थे। ऐसा करने में विफल रहने पर वे सदैव सिलाई मशीन ही लौटा देते थे। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक तथ्य यह था कि बाजार, दुकान, रेलवे स्टेशन में सौदागर अपने समक्ष रुपयों के खुले संदूक लेकर बैठते थे और कभी कोई हाथ भी नहीं लगाता था। यूरोप में कोई ऐसा सोच भी नहीं सकता था।" कर्नल स्लीमैन का यह कथन भी उल्लेखनीय है, "मेरे समक्ष ऐसे सैकड़ों मामले आ चुके हैं, जिसमें किसी व्यक्ति की सम्पत्ति, स्वतंत्रता या जीवन उसके झूठ बोलने पर निर्भर था, परन्तु उसने झूठ बोलने से इन्कार कर दिया।"

चार्ल्स वोरसेलेस ने कहा था, "मैंने भारतवर्ष में २२ वर्ष बिताये हैं और तत्पश्चात् १७ वर्ष इंग्लैंड में रह चुका हूँ। मैं जितना ही अपने देशवासियों को देखता हूँ, उतना ही मुझे भारतीय लोग अच्छे लगते हैं।" डा. ग्राहम ने कहा था, "हिन्दू लोग जहाँ भी गए, उन्होंने वहाँ के लोगों के आध्यात्मिक स्तर को सुधारा।" सर जार्ज बर्डवुड ने कहा था, "हिन्दू नारियाँ पवित्र और पतिव्रता हैं। स्वच्छता में भारतीय लोग संसार के अन्य सभी देशवासियों से महान् हैं।" ये सब प्राचीन भारतीय लोगों की नैतिक निष्ठा के साक्ष्य हैं।

कौटिल्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु थे, पर उन्होंने स्वयं को महलों के सुख-विलास से दूर रखकर एक छोटी कुटिया में निवास किया। सम्राट् अशोक महान् वीर थे, पर कलिंग-युद्ध के भयानक संहार-दृश्य तथा विधवाओं तथा अनाथों के हृदय-विदारक आर्तनाद ने उनके हृदय को द्रवित कर दिया। उन्होंने युद्ध को तिलांजलि देकर त्याग और सेवा के आदर्शों को अंगीकार कर लिया। उन्होंने अनुभव किया कि धर्म या अध्यात्म के पथ पर चलना ही सच्ची विजय है। उन्होंने अपने जीवन में धर्म और आध्यात्मिकता के उच्च आदर्शों को स्वीकार करके सभी सद्विचारवान लोगों से प्रभूत सम्मान प्राप्त किया। उसने कहा, "किसी भी देश के नागरिकों को सहानुभूति, उदारता, सत्यनिष्ठा, स्वच्छता, दया और सज्जनता जैसे सद्गुणों को अपनाना चाहिए। उन्हें राजा के आदेशों के कारण नहीं, अपितु स्वेच्छापूर्वक भलाई के पथ का अनुसरण करना चाहिए। बाहरी दबाव के जरिये आरोपित अच्छाइयों को अपनाने की अपेक्षा स्वयं ही चुना हुआ भला पथ बेहतर है।"

विश्व-इतिहास के लेखक एच. जी. वेल्स ने कहा था – "विश्व के नरेशों और सम्राटों के नभ-मण्डल में सम्राट् अशोक का नाम ध्रुवतारे की भाँति चमकता है।" उनके कथन में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। सम्राट् अशोक का प्रेम और सहानुभूति विश्व के कोने कोने में फैल गई थी। पूरे विश्व के इतिहास में सम्राट् अशोक की जोड़ का दूसरा कोई सम्राट् भला कहाँ मिल सकता है? उनकी निम्नलिखित उक्ति उनके मन तथा हृदय की एक झलक प्रस्तुत करती है, "मैंने सड़कों के दोनों ओर वट-वृक्ष लगवाए हैं, ताकि मनुष्यों तथा पशुओं को उनकी शीतल छाया मिल सके। मैंने सड़क के दोनों ओर आम के बगीचे लगवाये हैं तथा हर मील पर कुएँ खुदवाये हैं और लोगों को ठहरने के लिए धर्मशालाओं का निर्माण कराया है।

"माता-पिता की सेवा सत्कर्म है। पशुओं को न मारना या उन्हें कोई क्षति न पहुँचाना सत्कर्म है। मितव्ययिता के द्वारा भविष्य के लिए कुछ बचा रखना सत्कर्म है।" सम्राट् अशोक 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी' की उपाधि से प्रसिद्ध थे। उन्होंने कहा था, "मैं भोजन कर रहा होऊँ, रनिवास या अन्त:पुर में होऊँ या पशुशाला, पालकी या उद्यान में – कहीं भी क्यों न होऊँ, लोग मेरे पास आकर जन-समस्याओं के बारे में बता सकते हैं। मैं उनकी सभी समस्याओं के विषय में जानना चाहता हूँ।

"मैं 'देवानां-प्रिय' प्रियदर्शी हर धर्म के लोगों, सभी भिक्षुओं, सभी गृहस्थों का उपहार और आदर के साथ सत्कार करता हूँ। अन्य धर्मों के लोगों का सर्वदा सम्मान करना चाहिए। इससे अपना धर्म सुदृढ़ बनता है और अन्य सभी धर्मों की सहायता होती है, अन्यथा दोनों ही धर्मों की हानि होती है। जो अपने धर्म के उत्थान के उत्साह में आकर केवल अपने धर्म का सम्मान करके, अन्य धर्मों की निन्दा करता है, वह अपने ही धर्म को हानि पहुँचाता है। मेल-मिलाप सदैव लाभकारी है। आपस में मेल-जोल रखने से अन्य धर्मों के बारे में जानकारी मिलती है और उनकी भी सहायता होती है। 'देवानां-प्रिय' की यही इच्छा है। सभी धर्मों के लोगों को सच्चा ज्ञान तथा समृद्धि प्राप्त हो। अपने विशेष धर्म के प्रति निष्ठा रखनेवालों के मन में यह बात बैठा देनी होगी। सभी धर्म फलें-फूलें। 'देवानां-प्रिय' के लिए ईश्वरोपासना या दान की अपेक्षा अन्य धर्मों का सम्मान करना कहीं बेहतर और महानतर कृत्य है।

"सभी लोग मेरी सन्तानें हैं। जैसे मैं इहलोक और परलोक में अपनी सन्तानों की सुख-समृद्धि की कामना करता हूँ, वैसे ही मैं सभी लोगों के सुख की भी इच्छा करता हूँ। आप लोग शायद दूसरों के प्रति मेरी शुभ-कामना की तीव्रता नहीं जानते।"

"गर्भवती गायों, भेड़ों या सुअरों या दुधारू बकरियों को मांस के लिए न मारा जाय। ६ माह से कम आयु के बछड़ों को न मारा जाय। मुर्गों को पीड़ित न किया जाय। जीवित प्राणियों को आग में न जलाया जाय। वन्य पशुओं को बाहर निकालने अथवा अन्य किसी उद्देश्य से जंगलों को न जलाया जाय। किसी पशु के भोजनार्थ किसी अन्य जीवित प्राणी को न दिया जाय।"
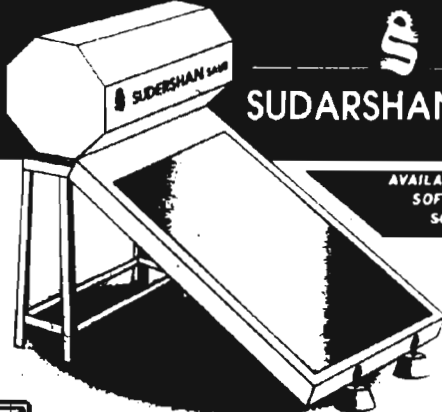
क्या ये उक्तियाँ प्रमाणित नहीं करती कि सच्ची आध्यात्मिक पृष्ठभूमि या सच्चे धर्मभाव से नि:स्वार्थ प्रेम की ऐसी धारा नि:स्रित होती है, जो समग्र संसार का हित-साधन करती है?

सम्राट् हर्षवर्धन हर पाँचवें वर्ष अपनी सारी धन-सम्पदा विद्वानों व निर्धनों के बीच वितरित कर दिया करते थे। सम्राट् पुलकेशी द्वितीय के राज्य में आभूषणों से सुसज्जित नारियाँ छेड़-छाड़ या कुदृष्टि तक के भय से मुक्त होकर सड़कों पर अकेली चल सकती थीं। राजा कृष्णदेवराय ने कवि अल्लसनी पेद्दना को अपने ही हाथों से रत्नजटित पादुका पहनायी थी। राजा स्वयं ही शोभायात्रा में कवि पेद्दना को पालकी में बैठाकर वहन करते थे। छत्रपति शिवाजी ने अनेक भयंकर युद्धों के द्वारा विजित अपने पूरे साम्राज्य का स्वामित्व अपने गुरु समर्थ रामदास के भिक्षापात्र में डालने में जरा भी संकोच नहीं किया। जब उनके सैनिक अधिकारियों ने उपहार-स्वरूप एक सुन्दर युवती लाकर उन्हें भेंट की, तो शिवाजी ने उसे अस्वीकार करके ससम्मान उसके पति के पास भेज दिया। यद्यपि उन्होंने मुसलमान बादशाहों की क्रूरता और हिंसा देखी थी, तथापि उन्होंने कभी किसी मस्जिद को क्षति नहीं पहुँचाई और न ही कुरान का अनादर किया। इस प्रकार शिवाजी ने अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता की एक आदर्श भावना प्रकट की। दुर्गादास राठौर ने अपने पास बन्दी के रूप में रखी औरंगजेब की पौत्री को पढ़ाने के लिए सुदूर अजमेर से एक मुसलमान प्रशिक्षिका को बुला भेजा था। राजपूत योद्धाओं की वीरता समस्त संसार में अद्वितीय थी। ऐसी उत्कृष्ट भावना के पीछे कौन-सा प्रभाव सक्रिय था? क्या यह हमारी धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा में निहित उच्च आदर्श ही नहीं था? ❖ (क्रमश:) ❖
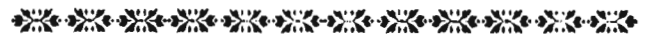
श्रीरामकृष्ण और युगधर्म

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(२६ अगस्त, १९६८ को, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना में रामकृष्ण संघ के तत्कालीन अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने जो व्याख्यान दिया था, उसका अनुलेख बँगला मासिक 'उद्बोधन' के वर्ष ७१ अंक २ में प्रकाशित हुआ था। बेलूड़ मठ के रामकृष्ण मिशन सारदापीठ से इसका हिन्दी अनुवाद 'ईश्वरोपलब्धि के पथ' नामक पुस्तिका में प्रकाशित हुआ है, जहाँ से हम इसका पुनर्मुद्रण कर रहे हैं। – सं.)

गीता में श्रीकृष्ण ने कर्मयोग-प्रसंग में अर्जुन से कहा था, "यह योग प्राचीन काल से चला आ रहा है। मैंने ही पहले विवस्वान को इस योग का उपदेश दिया था, फिर विवस्वान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को इसे बताया। इस प्रकार यह योग परम्परा-क्रम से चला आ रहा था। काल के अन्तराल में यह योग लुप्त हो गया था। आज मैंने उसी कर्मयोग का तुम्हें उपदेश दिया है। तुम मेरे सखा और प्रिय मित्र हो, इसलिए यह गुप्त रहस्य तुम्हें बताया है।" इस बात को सुनकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा, "तुमने जो कहा कि मैंने विवस्वान से कहा था, वैसा कैसे हो सकता है। विवस्वान का जन्म तो बहुत पहले हुआ था और तुम्हारा अभी हुआ है।"

श्रीकृष्ण की बात सुनकर अर्जुन के मन में दो संशय उत्पन्न हुए थे। पहला तो यह कि यदि तुम भी मेरे समान जीव हो, तब तो तुममें भी पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रह सकती। और दूसरा यह कि तुम्हें यदि पूर्वजन्म की बातें विस्मृत नहीं हुई, तो इससे लगता है कि तुम सर्वज्ञ ईश्वर हो। पर ऐसा होने से तो तुम्हारा जन्म या मरण किसी भी तरह सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वकर्मों के कारण ही साधारण मानव को जन्म ग्रहण करना पड़ता है। ईश्वर का तो कुछ भी कर्तव्य नहीं है, धर्म-अधर्मादि कुछ भी नहीं, वे तो सभी कर्म से अतीत हैं। इन दो संशयों के कारण ही उन्होंने श्रीकृष्ण से यह प्रश्न किया था।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, "पूर्व में हमारे और तुम्हारे भी अनेक जन्म हो गए हैं। चूँकि मैं ईश्वर हूँ, अत: मुझे उन सभी जन्मों की बात याद है और तुम साधारण जीव हो अत: तुम्हें कोई भी बात याद नहीं है।" तो फिर जन्म-मृत्यु रहित ईश्वर का अवतार कैसे हो सकता है? – अर्जुन के इस संशय को दूर करने हेतु वे बोले, "यह सत्य है कि मेरा जन्म और मृत्यु भी नहीं होता, तथापि मैं अपने को प्रकृति का आश्रय बनाकर अपनी ही माया के द्वारा मानव रूप धारण कर लेता हूँ। इस रूप से मैं ठीक साधारण मानव नहीं हूँ। यह मेरा मायिक रूप है।" जैसा कि तुलसीदास जी ने भगवान राम की स्तुति करते हुए कहा है – **मायामनुष्यं हरिम्**। श्रीकृष्ण ने भी वही बात कही है। वे ठीक हम लोगों के जैसे मनुष्य नहीं हैं – यही बात उन्होंने अर्जुन से कही। इस तरह 'माया मनुष्य' होकर वे पूर्व में अनेकों बार आए हैं और इसी प्रकार आकर उन्होंने विवस्वान को उपदेश दिया है। इसके बाद उन्होंने यह भी बताया है कि वे किसलिए इस भाव से आते हैं, "जब अधर्म खूब बढ़ जाता है, धर्म की ग्लानि होती है, तब साधुओं के परित्राण तथा दुष्टों के दमन हेतु मैं युग युग में अवतार लेता हूँ।" अर्थात् धर्म की स्थापना के लिए – **धर्म संस्थापनार्थाय** मैं आता हूँ। किन्तु इसके लिए उन्हें आना क्यों होगा? ईश्वर तो सर्व-शक्तिमान हैं – मानव रूप न धारण करके भी तो वे दुष्टो का विनाश और अच्छों की सहायता कर सकते हैं। परन्तु धर्म-संस्थापन उस प्रकार से नहीं हो सकता है। धर्म-स्थापन के लिए उन्हें मानव-रूप में आना पड़ता है, हम लोगों को धर्म पथ पर चलाने के लिए, पथ दिखाने के लिए, वे हम लोगों की आँखों के समक्ष अपनी लीला करते हैं, वे अपने जीवन को आदर्श के रूप में दिखाते हैं और उपदेश देते हैं, ताकि हम लोग आसानी से समझ सकें। भगवान करुणामय हैं, हम लोगों के परम हितैषी हैं। मनुष्य सही मार्ग से चलकर उनका दर्शन प्राप्त कर सकें, उनके साथ युक्त हो सकें, इसी के लिए वे अवतार-रूप में, मनुष्य-रूप में आकर अपनी लीला द्वारा जीवन के आदर्श को दिखा जाते हैं। हम लोगों के लिए आदर्श को सहज बोध्य करने हेतु 'डिमांस्ट्रेशन' देकर जाते हैं। आजकल के 'आडियो-विजुअल' (सवाक् चित्र के द्वारा) शिक्षा की भाँति हम लोगों की आँखों के सामने लीला-प्रदर्शन करते हैं।

उसके बाद श्रीकृष्ण कहते हैं, "हमारे इस दिव्य जन्म-कर्म को जो ठीक ठीक समझ सकते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता। मृत्यु के बाद वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। हमारा कहना है कि श्रीरामकृष्ण अवतार थे और निश्चय ही वे धर्म-स्थापन के लिए आए थे। थोड़ा विचार करें कि उन्होंने किस प्रकार धर्म की स्थापना की। यदि हम विचार के द्वारा इसकी धारणा कर सकें, तो भगवान के वचनानुसार हम लोगों की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर सम्भवत: हम कह सकते हैं कि धर्म-स्थापन कहाँ हुआ? हम लोग तो कुछ देख नहीं पाते हैं, क्योंकि श्रीरामकृष्ण के समय में जितना धर्म था, अभी तो उतना भी नहीं है – अभी तो चारों ओर अधर्म का ही ताण्डव नृत्य चल रहा है। धर्म-स्थापन के लिए उन्होंने भला क्या किया? इस सूक्ष्म विषय को समझने के लिए हमें थोड़ा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करके देखना होगा।

रोमन सभ्यता कभी बहुत ही अच्छी सभ्यता थी। पर जब उसकी आन्तरिक शक्ति का क्षय हुआ, तो वह सभ्यता नष्ट हो गई। उसी के चिता-भस्म के ऊपर जो नई सभ्यता तैयार हुई, वही यह आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता है, जिसे यूरोपीय सभ्यता

कहते हैं। इस सभ्यता के पीछे कौन-सी शक्ति थी? ईसा-मसीह, जैसा जीवन और उपदेश दे गए थे, उसी को आधार बनाकर यूरोप में यह नई सभ्यता तैयार हुई।

उसके बाद लगभग सोलहवीं शताब्दी तक पूरे यूरोप में शान्ति थी, लोगों का भगवान पर भक्ति-विश्वास था और लोग आनन्द में थे। ठीक तभी विज्ञान के आविष्कार शुरू हुए। विज्ञान का विकास होने के साथ साथ लोगों का विचार की ओर झुकाव होने लगा। लोगों ने देखा कि भगवान को तो हम देख नहीं पाते, वे हमारे पंचेन्द्रियों के गोचर तो हैं नहीं। ऐसे भगवान के अस्तित्व का प्रमाण क्या है? इस तरह वे धीरे धीरे ईसा के जीवन तथा शिक्षाओं से दूर हटते गए। यह तो सभी जानते हैं, ऐसा करते हुए हम कहाँ तक आ पहुँचे हैं। अभी अनेक मनीषी समझते हैं कि मानव सभ्यता की गति अधोमुखी हो गई है। समझकर वे किसी भी उपाय से इसे बिल्कुल डूबने से बचाने के लिए प्रयास कर रहे हैं। और उसी के फलस्वरूप समाजवाद, साम्यवाद आदि का प्रादुर्भाव हुआ। विचार करने से लगता है कि इनके अन्दर भी कुछ सत्य है, कुछ चीजें हैं। पर केवल ये ही चीजें मानव को पूर्ण रूप से तृप्त नहीं कर सकतीं। इसी कारण ये हमारी समस्याओं का पूरा समाधान नहीं पाते। किसी प्रकार की **राजनीति या अर्थनीति के द्वारा इस समस्या का समाधान नहीं होगा, क्योंकि इसके मूल में बड़ी भूल हो गई है। ये मनुष्य को जड़मात्र मानते हैं, देहमात्र समझ कर विचार करते हैं**। मानव में जो आत्मा है, इस सत्य की अवहेलना की जाती है। आधुनिक समस्याओं के समाधान करने के लिए मनुष्य को अपने अन्तर में एक क्रान्ति, आमूल परिवर्तन लाना होगा। अन्तर का यही परिवर्तन सभी समस्याओं का समाधान कर सकता है, केवल बाह्य वातावरण में परिवर्तन करने से यह सम्भव नहीं होगा और अन्तर के इस परिवर्तन के लिए धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। अत: धर्म के पुन: अभ्युत्थान का प्रयोजन है।

यह अभ्युत्थान कैसे सम्भव हो सकता है? हम देखते हैं कि युग युग में महापुरुषों ने जन्म लिया और उनके सन्देश के आधार पर बड़ी बड़ी सभ्यताएँ निर्मित हुईं। उन महापुरुषों के जीवन व वाणी का प्रभाव आज भी बहुतों के हृदय को शान्ति प्रदान कर रहा है। अत: **किसी महापुरुष के जीवन तथा वाणी का अवलम्बन करके ही यह अभ्युत्थान सम्भव होगा।**

अब हमारे विज्ञान के महावीर लोग कहेंगे – ''आप जो धर्म धर्म करते हैं और जिसके मूल में भगवान बताते हैं, वह है या नहीं – इसी का तो कोई ठीक नहीं है। फिर मानव के दु:ख-कष्ट के साथ भी आपके धर्म का कोई सम्पर्क देखने में नहीं आता। आप लोग संसार के प्रति उदासीन हैं। ऐसे धर्म की हमें क्या जरूरत? लोग भूख से, रोगों से, महामारी से मर रहे हैं। इन सबके प्रति उदासीन रहकर आप लोग 'धर्म' 'धर्म' कर रहे हैं। इस धर्म से क्या होगा? और एक बात है – धर्म मत के विषय में आप लोगों का आपस में ही मेल नहीं है, आप परस्पर झगड़ा करते हैं। धन-सम्पत्ति के लिए झगड़े में दुनिया के जितने लोग नहीं मरते, उससे अधिक आपके धर्म के लिए आपस में लड़कर मरते हैं – हिन्दू, मुसलमान, ईसाई परस्पर झगड़ा करते हैं। हम लोग इनमें से किस धर्म को लें? और लेकर करेंगे भी क्या? अत: आप लोग पहले अपना घर सम्हालें, हमें उपदेश देने की चेष्टा न करें।''

यही उनकी युक्ति है और यही आधुनिक युग का मनोभाव है। यह मनोभाव लोगों में फैल रहा है। लोग आज वैज्ञानिक पद्धति से विचार करना सीख रहे हैं और इसके अनुयाई के लिए भगवान पर विश्वास करना कठिन हो गया है। धर्म के बारे में हम लोगों की जो पुरानी धारणाएँ है, वे इस विचार के सामने टिक नहीं पातीं। अत: लोग ठीक से समझ नहीं पाते कि भगवान हैं या नहीं, और उन्होंने भगवान में विश्वास खो दिया है। पर यह विश्वास खो देने का फल क्या हो रहा है? लोगों का मानसिक कष्ट बढ़ रहा है, लोगों का मन हाहाकार से भरता जा रहा है, ऐसा अनुभव हो रहा है कि हमने बहुत कुछ खो दिया है। हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है, आदर्श क्या है – उसका कुछ पता मिल ही नहीं रहा है। इन सभी समस्याओं का समाधान कौन करेगा? भगवान के अस्तित्व को प्रमाणित करके, पुन: **लोगों के मन में भगवान के ऊपर विश्वास कौन ला देगा? यही आधुनिक युग की एक विशेष समस्या है।**

आधुनिक युग का एक और भाव है। चारों ओर हम केवल दावों की बात सुनते हैं, कर्तव्य की बात कहीं नहीं सुनी जाती है। हमारे संविधान में भी मानवीय अधिकार, मौलिक अधिकार, आदि पाश्चात्य जगत् के अनेक अधिकारों की बातें आ गई हैं। **हम लोगों के दावे क्या क्या हैं, इस विषय में हम बहुत ही सजग हैं, पर हमारा कर्तव्य क्या है, इस विषय में कोई चिन्ता करना नहीं चाहता**, इस ओर किसी की दृष्टि ही नहीं है। सारे संसार का दृष्टिकोण ही बदल गया है।

पर हमारे **भारतीय आदर्श में दावे-जैसी कोई बात ही न थी, सर्वदा कर्तव्य की भावना ही रहती थी**। हमारे शास्त्रों में यही बताया गया है कि राजा के, प्रजा के और अधिकारियों के क्या कर्तव्य हैं। फिर ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों के कर्तव्यों का निर्देश है। गृहस्थों, संन्यासियों और छात्रों के कर्तव्यों का निर्देश है। कर्तव्यों पर ही दृष्टि रहती थी, किसी तरह का दावा नहीं था। फलत: सभी सेवापरायण थे। तात्पर्य यह कि **कर्म अपने जीवन में स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं, बल्कि दूसरों की सेवा हेतु – परहिताय होना चाहिए**। समाज में रहने पर हमें समाज की भी कुछ सेवा करनी होगी – इसी दृष्टिकोण पर हमारा समाज गठित हुआ था। पर अब वह दृष्टिकोण उलट गया है, **सेवा का स्थान दावा ने ले लिया है**। तो इस

दृष्टिकोण में परिवर्तन कैसे आएगा। ये समस्याएँ केवल भारत की ही नहीं हैं, समूचे संसार की हैं। वर्तमान सभ्यता इनका समाधान करने में असमर्थ है, इस कारण सभ्यता पतन की ओर जा रही है। वस्तुत: **यह भाव अधिक दिन नहीं चलेगा, सभ्यता का नये भाव से निर्माण करना ही होगा।**

अब यह भी देख लिया जाय कि नई सभ्यता के निर्माण के लिए हमारे पास कौन-सी शक्ति है, क्या आदर्श है? **हम लोग एक सन्धि-क्षण में निवास कर रहे हैं।** यह एक युग का अन्त और दूसरे युग का प्रारम्भ है – अत: हमें दोनों ही छोर दिखाई पड़ रहे हैं। मगर स्थूल दृष्टि से, इस युग के ध्वंस की दिशा पर ही हम लोगों की दृष्टि विशेष रूप से पड़ती है। अन्य दिशा में पुनर्गठन की जो शक्तियाँ धीरे धीरे कार्य करती जा रही हैं, वे देखने में नहीं आतीं। भलीभाँति विचार करने पर हम बहुत कुछ समझ सकेंगे।

अब यह देखें कि इस युग-परिवर्तन के सन्धि-क्षण में, नये युग के प्रवर्तन में श्रीरामकृष्ण का क्या योगदान है? वे हमें क्या दे गए हैं? पहले तो हमें भगवान में विश्वास की जरूरत है, जिसके न होने से हमारे मन में शान्ति नहीं आ रही है, **श्रीरामकृष्ण ने उसी भगवत्-विश्वास को पुनः स्थापित कर दिया है।** उन्होंने साधन-भजन द्वारा भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन किया था, आत्म-साक्षात्कार किया था। जब स्वामी विवेकानन्द जी ने पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण की, तो सब कुछ सीखने पर उनके मन में भी ईश्वर के अस्तित्व के बारे में ऐसा ही सन्देह हुआ था। जैसे अर्जुन ने सारे जगत् के प्रतिनिधि होकर श्रीकृष्ण से प्रश्न किया था, स्वामीजी ने भी ठीक उसी तरह आधुनिक युग के सम्पूर्ण पृथ्वी के सभी लोगों का प्रतिनिधि होकर श्रीरामकृष्ण से प्रश्न किया था, "क्या आपने भगवान को देखा है?" उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने तत्क्षण कहा, "हाँ, भगवान को मैंने देखा है। तुम्हारे साथ जैसे बातें कर रहा हूँ, उनके साथ भी ठीक वैसे ही बातें करता हूँ और केवल इतना ही नहीं तुम्हें भी दिखा सकता हूँ।" इससे न केवल स्वामीजी के मन का सन्देह पूरे तौर से चला गया, बल्कि सम्पूर्ण संसार के लोगों के ईश्वर के अस्तित्व-विषयक सन्देह का निराकरण हो गया। **श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ईश्वर को देखा, उनके साथ बातचीत की, वैज्ञानिक पद्धति से अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित कर दिया कि भगवान हैं, उनका दर्शन होता है, उनके साथ बातचीत हो सकती है।** इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है? इस प्रकार वे ईश्वर के अस्तित्व के विषय में विश्व को पुन: पूर्ण आश्वस्त कर गए हैं। सारे जग में आज यह जो आपसी विरोधिता चल रही है, अनेक मनीषियों ने इसे दूर करने की चेष्टा की है। विश्व-बन्धुत्व की स्थापना के लिए, एक संसार का निर्माण करने के लिए उन लोगों ने काफी प्रयास किए हैं, ताकि सभी लोग एक-दूसरे के प्रति स्नेह-सद्भाव के साथ जगत् में निवास कर सकें। किन्तु ऐसा करने को जिस 'आधार' की जरूरत है, जिसके ऊपर इसका निर्माण होगा, वह आधार कहाँ है? किस नींव पर विश्व-बन्धुत्व की स्थापना होगी? हम देखते हैं कि संसार में अनेक जातियाँ हैं, अनेक प्रकार के लोग हैं, उन सभी को भ्रातृत्व के बन्धन में बाँधने के लिए, सभी को एक परिवार के अन्दर लाने के लिए एक सामान्य सूत्र की आवश्यकता है।

उस सूत्र की कोई खोज ही नहीं कर पाता। श्रीरामकृष्ण हम लोगों को वही सूत्र दे गए हैं – प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर भगवान का ही निवास है, **बाहर की आकृति में चाहे जितना भी भेद हो, पर सबके अन्तर में एक ही ईश्वर की अभिव्यक्ति है।** इसी में मानव मात्र का एकत्व निहित है। **मानव के इस ईश्वरत्व रूपी एकत्व को आधार बनाकर विश्व-बन्धुत्व स्थापित हो सकता है,** 'एक विश्व' का निर्माण हो सकता है। हम लोगों की इस समस्या का वे समाधान कर गए हैं। इस दृष्टि से इसे अपनाने पर विश्व-बन्धुत्व की स्थापना हो सकती है।

इसके बाद विभिन्न धर्मों के बीच जो विरोध है, जिसके कारण संघर्ष होते हैं, उसका समाधान भी वे दे गए हैं। उन्होंने धर्म-पथ को अपनाकर साधना की और हर साधना, हर मार्ग के अन्त में भगवद्दर्शन के बाद अनुभव किया कि विभिन्न धर्मों में विभिन्न नामों व रूपों से एक ही ईश्वर को पुकारा जाता है। इस अनुष्ठान के द्वारा वे दिखा गए कि सभी धर्म भगवद्दर्शन के लिए अनुकूल हैं – किसी भी धर्म-पथ पर आगे बढ़ा जाय, तो अन्त में भगवत्प्राप्ति होगी ही। इसलिए धर्ममत को लेकर, पथ को लेकर झगड़ा करने की जरूरत नहीं। जिसका जैसा मनोभाव हो, जैसी प्रवृत्ति हो, वह उसी भाव से ही धर्म का अनुष्ठान करे और अन्त में वह उस एक ही भगवान के पास पहुँचेगा। इस प्रकार **वे हमारे लिए विभिन्न धर्मों के आपसी विरोध की भी मीमांसा कर गए हैं।**

आज धर्म पर आरोप लगाया जाता है कि उसकी मानव के दुख-कष्ट के प्रति जरा भी सहानुभूति नहीं है, धार्मिक लोग मानव के दु:ख-कष्ट के प्रति उदासीन हैं। ऐसे धर्म का क्या उपयोग? इस आरोप का खण्डन भी श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी के जीवन में मिलता है। स्वामीजी कहते हैं, "जो भगवान यहाँ हमें अन्न नहीं दे सकते, वे ही स्वर्ग में अनन्त सुख देंगे? ऐसे भगवान पर मैं विश्वास नहीं करता।" स्वामीजी ने इसे सशक्त शब्दों में ही कहा है। श्रीरामकृष्ण ने एक दिन समाधि से उतर कर कहा था – **जीवों पर दया नहीं, शिवज्ञान से जीवसेवा।** शिव-बोध से जीवों की सेवा करनी होगी। आज सारे जगत् में इस भाव की आवश्यकता है। श्रीरामकृष्ण की इस छोटी-सी उक्ति का स्वामीजी व्यापक रूप से प्रचार कर गए हैं। पाश्चात्य देशों का भ्रमण करते हुए स्वामीजी ने भारत के अन्नाभाव के परिप्रेक्ष्य में उन देशों की विपुल समृद्धि को देखा, तो वे सोचने

लगे कि भारतवासियों को यदि भरपेट भोजन न मिले, यदि इनके पास कुछ सांसारिक सम्पत्ति न हो, तो ऐसी स्थिति में यहाँ धर्म-प्रचार से कोई लाभ नहीं होगा। दूसरी ओर सांसारिक उन्नति की खोज में, उस ओर अत्यधिक आकृष्ट हो जाने पर यदि हम पाश्चात्य जगत् के समान अपने धर्म के आदर्श को भूल बैठे, तब तो हम लोगों की दशा भी उन्हीं लोगों जैसी हो जाएगी। अतः वे हमारे सामने एक विशेष आदर्श रख गए – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च** – एक साथ ही 'अपनी मोक्ष-प्राप्ति तथा जगत् के हितसाधन' में लग जाओ।

हमारे देश में हर आचार्य या अवतारी महापुरुष के जन्म लेने के बाद एक एक मठ की स्थापना हुई है। वहाँ रहकर उनके शिष्यगण उनके उपदेशों का प्रचार करते हैं। इस बार स्वामी विवेकानन्द जी ने जिस 'रामकृष्ण मठ तथा मिशन' की स्थापना की है, यह क्या ठीक उसी तरह का है, या पूर्व के मठों से इसमें कुछ भेद है? पहले जो मठ हुए, उनका उद्देश्य था भगवत्प्राप्ति, स्वामीजी ने जो मठ बनाया, उसका भी मुख्य उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है। यहाँ तक तो कुछ भी भेद नहीं है, हम लोगों का सनातन आदर्श तो ठीक ही है, पर अन्य मठों से स्वामीजी के मठ में कुछ भेद अवश्य है। पूर्व के मठवासी केवल जप-ध्यान करते थे; पूजा तथा शास्त्रों की चर्चा ही करते थे। भक्तों को शास्त्र के उपदेश देते थे। बाहरी लोगों के साथ, समाज के साथ उनका केवल इतना ही सम्पर्क था। स्वामीजी ने उसमें कुछ परिवर्तन किया है, **देश तथा समाज की उन्नति के लिए मठवासियों को सभी तरह के काम करने होंगे, रोगियों की सेवा-सुश्रुषा करनी होगी, अशिक्षितों को शिक्षा देनी होगी, ऐसे ही तरह तरह के कार्यों द्वारा समाज को पुनः सुन्दर ढंग से तैयार करना होगा और इस कार्य को व्यापक रूप से करना होगा।** समाज चिर काल से साधुओं की सेवा करता आया है, उन्हें साधन-भजन की सुयोग-सुविधा देता रहा है। आज वही समाज ग्लानियुक्त हो गया है, अतः कार्यक्षेत्र में आकर समाज को पुनः ग्लानिमुक्त कर सुव्यवस्थित कर देना ही आज साधुओं का कर्तव्य है।

कर्मक्षेत्र में उतरने पर आदर्श को भूल जाने की आशंका है। वैसा न हो, इस ओर भी ध्यान रखने की जरूरत है। इसी कारण स्वामीजी एक नया साधन-पथ बना गए। साधु लोग पूर्व के जैसे ही जप-ध्यान-पूजा-पाठ करेंगे, भगवान की नाम-रूप से अतीत सत्ता का ध्यान करेंगे, परन्तु भगवान जगत् के रूप में भी अभिव्यक्त हैं, प्रत्येक मनुष्य के अन्दर भी उन्हीं का निवास है। इस दृष्टि से मानव की सेवा करने से भगवान की ही सेवा हो जाती है, उपासना हो जाती है। **जप-ध्यान करते समय हम जिन भगवान का चिन्तन करते हैं, वे ही मानव के रूप में हैं – इस भाव से सेवा करने से भगवान का ध्यान भी हो जाता है।** ऐसा होने पर भगवान की पूजा, उनके ध्यान तथा भगवद्-बुद्धि से मानव-सेवा में कोई भेद नहीं रह जाता, इस प्रकार हम सर्वदा भगवान के चिन्तन में ही लगे रह सकते हैं। ऐसा होने पर आदर्श से भ्रष्ट होने की आशंका नहीं है।

अतः स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित इस कर्ममार्ग और जप-ध्यान की साधना में कोई भेद नहीं है – 'Work is Worship' – कर्म ही पूजा है। स्वामीजी ने कहा है, "भगवान की पूजा जानकर जनसेवा करने से समाज का असीम कल्याण कर सकोगे।" **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च** – इसके भीतर निहित भाव पर हम विचार करें – इसका अर्थ कार्य को केवल परोपकार, केवल मानव के उपकार, केवल 'समाज-सेवा' के रूप में लेना नहीं, बल्कि इसका अर्थ है – साधना के रूप में भगवत्प्राप्ति के लिए ही कर्म करना; दुनिया की, समाज की, मानव की सेवा के माध्यम से ही भगवान की सेवा करना। कर्म उद्देश्य नहीं है, **केवल 'सामाजिक कार्य' या मानव-सेवा उद्देश्य नहीं है, उद्देश्य है भगवान की प्राप्ति। विभिन्न कर्म उसके उपाय मात्र हैं।** जैसे किसी कारखाने का मूल उद्देश्य है स्टील बनाना, पर उसके साथ ही 'बाइ प्रॉडक्ट' के रूप में भी कुछ चीजें पैदा होती हैं, जिनकी बाजार में कीमत भी है। पर कारखाने का मूल उद्देश्य उन 'बाइ प्रॉडक्ट' चीजों का उत्पादन करना नहीं कहा जा सकता। ठीक वैसे ही हमारे कामकाज, जनसेवा – ये मुख्य उद्देश्य नहीं है, उद्देश्य तो भगवान की प्राप्ति है। इस भगवत्प्राप्ति के लिए स्वामीजी यह साधना दे गए हैं। इस साधना के द्वारा भगवत्प्राप्ति के साथ ही उसके 'बाइ प्रॉडक्ट' के रूप में समाज-सेवा, समाज की उन्नति भी होगी। इस साधना से एक ओर भगवत्प्राप्ति की सुविधा होती है और दूसरी ओर जगत् का हित भी होता रहता है। इसीलिए स्वामीजी ने कहा – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।**

केवल भारत को ही नहीं, सारे विश्व को ही इसकी जरूरत है। क्योंकि इसमें सेवा ही परम धर्म है। वर्तमान जगत् में हम लोगों की जो विभिन्न समस्याएँ हैं, श्रीरामकृष्ण उन सभी का हल दे गए हैं। वे क्या क्या दे गए हैं? उन्होंने भगवान पर विश्वास को लौटा कर ला दिया है, सभी जीवों में ईश्वर दर्शन के द्वारा संसार में विश्व-बन्धुत्व का द्वार खोल दिया है, विभिन्न धर्मों के विरोध को दूर कर दिया है, समाज के दुख-कष्टों से उदासीन न रहकर शिवज्ञान से जीव-सेवा करना सिखा दिया है, हमारी दृष्टि धर्म की ओर आकृष्ट कर दी है – भगवत्प्राप्ति ही मानव-जीवन का उद्देश्य सिखाया है। उन्होंने इन सभी आदर्शों की स्थापना की है। इन आदर्शों मे इतनी शक्ति निहित है कि इनसे एक नये युग का सूत्रपात और नयी सभ्यता की सृष्टि होगी। स्थूल दृष्टि से इन बातों पर हमारी दृष्टि नही जाती, पर हम देखते हैं कि बड़े बड़े मनीषी श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी को उद्धृत कर कहते है कि इन्हीं आदर्शो से वर्तमान जग की समस्याएँ हल हो सकती हैं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

हितोपदेश की कथाएँ (९)

('सुहृद्-भेद' अर्थात् 'मित्रों में फूट' अध्याय से पिछले अंकों में आपने पढ़ा – दक्षिण देश का वर्धमान नामक वणिक् बैलगाड़ी में व्यापार के लिए निकला, पर बीच रास्ते में ही संजीवक बैल का पाँव टूट जाने से उसने उसे जंगल में ही छोड़ दिया। घायल संजीवक धीरे धीरे स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट हो उठा। उस जंगल का राजा पिंगलक नामक सिह बैल की दहाड़ सुनकर भयभीत हो गया। उसके सियार-मंत्री के पुत्रो – करटक और दमनक ने उसे चुपचाप चिन्तामग्न बैठे देखा। बाद में दमनक ने संजीवक बैल को लाकर राजा के साथ उसकी मित्रता करा दी। परन्तु धीरे धीरे संजीवक राजा पिगलक का विश्वासपात्र तथा कोषाध्यक्ष बन गया। इससे करटक तथा दमनक के मन में बड़ी ईर्ष्या तथा पीड़ा हुई। दमनक पुन: सिंह के पास जाकर उसे संजीवक के खिलाफ भड़काते हुए उनमें फूट डालने की कोशिश करने लगा। इसके बाद उसने राजा को बताया कि शत्रु पर आक्रमण करने के पहले उसकी शक्ति जान लेनी चाहिए और इसी प्रसंग में वह एक कथा बताता है। – सं.)

कथा १४

दक्षिण समुद्र के तट पर टिटिहरी पक्षियों का एक जोड़ा रहता था। जब टिट्टिभी का प्रसव-काल समीप आया, तो उसने अपने पति से कहा – "स्वामी ! प्रसव करने योग्य कोई एकान्त जगह खोजिए।" टिट्टिभ बोला – "प्रिये ! यही स्थान प्रसव के उपयुक्त है, क्योंकि यह चारों ओर से समुद्र से घिरा हुआ है।" टिट्टिभी ने कहा – "समुद्र की लहरों से यह स्थान भर जाता है।" टिट्टिभ बोला – "क्या मैं इतना कमजोर हूँ कि समुद्र मुझे सताएगा?"

टिट्टिभी ने उत्तर दिया – "तुममें और समुद्र में बहुत बड़ा अन्तर है। 'जो व्यक्ति योग्य-अयोग्य का ज्ञान रखता है और शत्रु को परास्त करने की युक्ति जानता है, वह कठिनाई में पड़ने पर भी दुखी नहीं होता।' और – 'मृत्यु के चार द्वार हैं – अनुचित कर्म, अपने लोगों से शत्रुता, बलवानों से स्पर्धा और स्त्रियों पर विश्वास।' "

इसके बाद बड़ी कठिनाई से पति की बातें मानकर टिट्टिभी ने वही अण्डे दिये। समुद्र ने उनकी बातें सुन ली थीं। उसने भी टिट्टिभ की शक्ति देखने हेतु उसके अण्डे बहाकर चुरा लिए। शोक से आर्त हो टिट्टिभी ने पति से कहा – "स्वामी ! यह तो बड़ा बुरा हुआ। समुद्र ने मेरे अण्डे नष्ट कर दिये।"

टिट्टिभ बोला – "प्रिये ! तुम डरो मत।" इतना कहकर उसने सभी पक्षियों की एक सभा बुलाई और उन्हें साथ लेकर पक्षिराज गरुड़ के पास गया। भगवान गरुड़ के पास पहुँचकर टिट्टिभ ने उनके समक्ष सारा वृत्तान्त सुनाते हुए कहा – "प्रभो ! मैं शान्ति के साथ अपने घर में बैठा था, पर समुद्र ने बिना कारण ही मुझे सताया है।" उसकी बात सुनकर गरुड़ ने जगत् की सृष्टि, पालन तथा संहार के मूल कारण भगवान विष्णु से सब समाचार कहा। उन्होंने समुद्र को आज्ञा दी कि इस टिटिहरियों के अण्डे वापस दे दे और उसने दे दिये। इसीलिए मैं कहता हूँ कि बिना किसी के सहायक आदि को जाने उसकी शक्ति का निर्णय नहीं हो सकता है।"

राजा पिंगलक ने पूछा – "तो मैं यह कैसे समझूँ कि वह मेरे प्रति शत्रुता का भाव रखता है?"

दमनक बोला – "जब बैल संजीवक अभिमान के साथ सींगे ऊपर उठाए विस्मित भाव से आपके सन्मुख आए, तब समझ लीजिए कि उसकी नियत ठीक नहीं है।"

ऐसा कहकर दमनक संजीवक के पास गया। संजीवक ने आदरपूर्वक कहा – "क्यों भाई ! कुशल तो है न?" दमनक बोला – "सेवकों का कुशल भला कैसे हो सकता है? क्योंकि – 'उनकी सम्पत्ति सदा पराये हाथ में रहती है, चित्त चिन्ता में लीन रहता है और राजसेवकों का तो अपने जीवन पर भी सदा सन्देह बना रहता है।' और फिर – 'इस संसार में ऐसा कौन है जिसे धन प्राप्त होने पर गर्व न हो? ऐसा कौन विषयी है जिसकी विपत्तियाँ दूर हो गई हों? ऐसा कौन है जो राजा का प्रिय हो? ऐसा कौन है जो मृत्यु के मुख में न पड़ा हो? ऐसा कौन है जो याचक होकर भी सम्मानित हुआ हो और ऐसा कौन है जो दुष्टों के जाल में फँसकर सुख से रहा हो?' "

संजीवक ने पूछा – "मित्र, कहो क्या बात है?"

दमनक बोला – "मैं अभागा क्या कहूँ? देखो, जैसे किसी समुद्र में डूब रहे व्यक्ति को सहसा एक साँप का सहारा मिल जाय, तो न वह उसे छोड़ सकता है और न पकड़ ही सकता है। मेरी दशा भी ठीक वैसी है, क्योंकि एक ओर राजा का विश्वास नष्ट हो रहा है, दूसरी ओर भाई का नाश उपस्थित है। क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? मैं तो बड़े भारी दुख-समुद्र में पड़ गया हूँ।" यह कहते हुए वह लम्बी साँस लेकर बैठ गया।

संजीवक ने कहा – "तो भी तुम विस्तार के साथ अपने मन की बात कहो।" दमनक ने धीरे से कहा – "यद्यपि राजा के भेद की बात किसी से नही कहनी चाहिए। परन्तु तुम मेरे विश्वास से आए थे, इसलिए परलोक को ध्यान में रखते हुए मुझे तुम्हारे हित की बात कहनी चाहिए। सुनो, हमारे राजा पिंगलक की नियत तुम्हारे पर खराब हो गई है। उन्होंने मुझे एकान्त में बताया है – संजीवक को ही मारकर मैं अपने परिवारवालों को तृप्त करूँगा।"

यह सुनकर संजीवक को बड़ा दु:ख हुआ। दमनक ने फिर कहा – "अब शोक करना व्यर्थ है। समय के अनुसार काम करो।" संजीवक ने क्षण भर विचार कर मन-ही-मन कहा – "यह बात तो ठीक ही है। यह किसी दुष्ट की चाल है या यों

ही वह हमसे बिगड़ गया है। इसका तो अब व्यवहार से भी नहीं पता चलेगा। क्योंकि – अधिकांश राजागण अयोग्य लोगों पर ही विश्वास करते हैं, धन विशेषकर कंजूसों के पास ही जाता है और मेघ भी पर्वत व समुद्र पर अधिक बरसते हैं।' फिर 'कोई कोई दुष्ट व्यक्ति भी अपने मालिक के बल पर ही सुशोभित हो उठता है।' ''

इस तरह देर तक सोचने के बाद उसने कहा – ''यह तो बड़ी भारी विपत्ति आ पड़ी। क्योंकि – 'बड़े परिश्रम के साथ आराधना करने पर भी राजा प्रसन्न नहीं होता, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। राजाओं में यह एक प्रकार की अद्भुत विशेषता होती है कि वे सेवा करने पर भी शत्रुता मानते हैं।' अब बात कहाँ तक पहुँच चुकी है, इसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। क्योंकि – 'जो मनुष्य किसी कारणवश अप्रसन्न होता है, वह उस कारण के दूर हो जाने पर प्रसन्न भी हो जाता है। परन्तु जो बिना किसी कारण ही व्यर्थ क्रुद्ध होता है, उसे भला कोई कैसे प्रसन्न कर सकेगा!' आखिर मैंने राजा का क्या बिगाड़ा था? या फिर राजा लोग बिना किसी अपकार के भी बुराई करनेवाले होते हैं।''

दमनक ने कहा – ''हाँ, ऐसा ही है। राजा किसी समझदार तथा प्रेमी सेवक के उपकार से भी प्रसन्न नहीं होता और दूसरे प्रत्यक्ष अपकार करनेवालों से भी प्रसन्न रहता है। चंचल चित्त के लोगों में ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सार बात यह है कि सेवाधर्म बड़ी गहन वस्तु है और उसमें सफल होना योगियों के लिए भी कठिन है। और भी –

कृतशतमसत्सु नष्टं सुभाषितशतं च नष्टमबुधेषु ।
वचनशतमवचनकरे बुद्धिशतमचेतने नष्टम् ।।

– 'दुष्ट मनुष्य के प्रति किये हुए सैकड़ों उपकार व्यर्थ हैं, मूर्ख मनुष्य के प्रति कहे गए सैकड़ों सुभाषित व्यर्थ हैं, बात न माननेवालों के प्रति कहे गए सैकड़ों वाक्य व्यर्थ हैं और अज्ञानी व्यक्ति के सामने सैकड़ों बुद्धियाँ व्यर्थ हैं।' और भी –

चन्दनतरुषु भुजंगा जलेषु कमलानि तत्र च ग्राहाः ।
गुणघातिनश्च भोगे खला न च सुखान्यविघ्नानि ।।

– 'चन्दन-वृक्ष में सुगन्ध होती है, पर उससे साँप भी लिपटे रहते हैं; जल में कमल होता है, पर उसमें घड़ियाल भी रहते हैं और भोग मे गुणों का नाश करनेवाले दुष्ट विद्यमान रहते हैं। अत: सुख कभी विघ्नों से रहित नहीं होता।'

मूलं भुजङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः
शाखा प्लवङ्गैः शिखराणि भल्लैः ।
नास्त्येव तच्चन्दनपादपस्य
यन्नाश्रितं दुष्टतरैश्च हिंस्रैः ।।

– 'चन्दन-वृक्ष की जड़ में साँप, फूलों पर भौंरे, डालियों पर बन्दर और चोटी पर भालू विराजमान रहते हैं; उसका कोई भी भाग ऐसा नहीं रहता जिस पर दुष्ट जन्तु न बसते हों।'

''और यह राजा बात का मधुर और हृदय का विषैला निकला। क्योंकि – 'दुर्जन व्यक्ति दूर से देखते ही दोनों हाथ उठाकर और नेत्रों में आँसू भरकर अपने आधे आसन पर बैठाता है। भुजाओं से कसकर गाढ़ आलिंगन करता है। बड़े आदर के साथ बातें कहता और सुनता है। उसके भीतर तो विष भरा रहता है, किन्तु बाहर से शहद के समान मीठा और मायावी रहता है। विधाता ने ऐसा कौन-सा नाटक बनाकर दुर्जनों को सिखा रखा है।'

''और भी – 'कठिनाई से पार होने योग्य जलराशि समुद्र को पार करने के लिए जहाज, अन्धकार में दीपक, वायुहीन स्थान मे पंखा तथा मतवाले हाथियों का मद दूर करने के लिए भाला बनाया है। यानि संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि विधाता ने जिनके लिए कोई उपाय न सोचा हो, किन्तु मुझे तो लगता है कि दुष्टों की चित्तवृत्ति को ठीक करने में ब्रह्माजी का भी उद्योग निरर्थक सिद्ध हुआ है।' ''

संजीवक फिर लम्बी साँस लेकर मन-ही-मन कहने लगा – ''ओह! बड़ा कष्ट है, बड़ी विपत्ति है! क्या मुझ घास खानेवाले जीव को सिंह मारेगा? क्योंकि –

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं बलम् ।
तयोर्विवादो मन्तव्यो नोत्तमाधमयोः क्वचित् ।

– 'जिन दो व्यक्तियों का समान धन तथा समान बल हो, उन्हीं में झगड़ा मानना उचित है। उत्तम और अधम के बीच कभी लड़ाई हो ही नहीं सकती।'

(फिर सोचकर) ''न जाने किसने राजा को मुझ पर भड़का दिया है। परन्तु इस प्रकार रुष्ट राजा से सदा भयभीत रहना चाहिए। क्योंकि – 'यदि मंत्री के बारे में राजा के मन में भेद-भाव पैदा हो गया है, तो स्फटिक की टूटी चूड़ी के समान उस चित्त को जोड़ने में भला कौन समर्थ हो सकता है?' और भी कहा है – 'वज्र और राजा, दोनों के ही तेज बड़े भयानक हैं, परन्तु वज्र तो एक ही स्थान पर गिरता है, परन्तु राजा का तेज चारों ओर एक साथ ही गिरता है।'

''ऐसी दशा में उससे युद्ध करते हुए मरना ही ठीक है। अब उसकी आज्ञा मानना उचित नहीं है। क्योंकि –

मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं शत्रुं हत्वा सुखानि वा ।
उभावपि हि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ।।

– 'वीरों के ये दोनों गुण बड़े दुर्लभ हैं। वह या तो संग्राम में मरकर स्वर्ग जाता है अथवा शत्रुओं को मारकर सुख पाता है।' और फिर यही तो युद्ध का समय है – 'जब बिना लड़े भी मृत्यु निश्चित हो और लड़ने पर जीवन की कुछ आशा हो तो उसी को विद्वानों ने युद्ध का समय बताया है।' क्योंकि – 'जब व्यक्ति को न लड़ने में कोई भलाई न दिखती हो, तो वह

युद्ध करके मर मिटता है।' क्योंकि –

जये च लभते लक्ष्मीं मृते चापि सुराङ्गनाम्।
क्षणविध्वंसिनः कायाः का चिन्ता मरणे रणे ।।

– 'युद्ध करते हुए इस क्षणभंगुर शरीर के समाप्त हो जाने की क्यों चिन्ता की जाय, क्योंकि युद्ध में जीत जाने पर लक्ष्मी की प्राप्ति होती है और मर जाने पर स्वर्ग की देवांगनाएँ।' ''

ऐसा सोचकर संजीवक बोला – ''मित्र ! मैं कैसे समझूँगा कि वह मुझे मार डालने को उद्यत है?''

दमनक बोला – ''जब राजा पिंगलक पूंछ ऊँचा किए, पाँव उठाए और मुँह बाये तुम्हारी ओर देखे, तो उस समय तुम्हें भी अपना बल दिखा देना चाहिए। क्योंकि – 'यदि कोई बलवान होकर भी निस्तेज हो, तो वह सबके अनादर का पात्र बन जाता है। देखो न, संसार में लोग किस प्रकार से निःशंक भाव से राख की ढेर पर पाँव रख देते हैं।' परन्तु यह काम तुम गुप्त रीति से करना, अन्यथा न तुम रहोगे न मैं।''

यह कहकर दमनक करटक के पास चला गया।

करटक ने पूछा – ''क्या हुआ? सब ठीक हो गया?''

दमनक ने उत्तर दिया – ''हाँ, दोनों में फूट हो गई।''

करटक ने कहा – ''इसमें क्या सन्देह? क्योंकि –

बन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः।
को न दृप्यति वित्तेन कुकृत्ये को न पण्डितः ।।

– 'दुष्ट व्यक्ति का कौन मित्र है? (कोई नहीं)। माँगने पर कौन नाराज नहीं होता? धन पाकर किसे गर्व नहीं होता? और कुकर्म में कौन कुशल नहीं होता?' और भी –

दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ।।

– 'धूर्तजन अपने स्वार्थ हेतु धनिकों को दुराचारी बना डालते हैं। अग्नि की भाँति दुष्टों का संग क्या नहीं कर डालता?' ''

इसके पश्चात् दमनक पिंगलक के पास गया और कहा – ''स्वामी ! वह पापी आ रहा है। आप तैयार हो जाइये। यह कहकर उसने ठीक उसी तरह उसे बैठा दिया, जैसा जाकर संजीवक को बताया था। संजीवक ने भी विकृत रूप में सिंह को देखकर अपनी क्षमता के अनुरूप पराक्रम दिखाया। दोनों में युद्ध हुआ और सिंह ने संजीवक को मार डाला।

इस प्रकार अपने सच्चे सेवक संजीवक को मारने के बाद राजा पिंगलक ने थकावट तथा दुख का अनुभव किया। वह बैठकर शोक करता हुआ कहने लगा – ''यह मैंने कैसा भयानक कर्म कर डाला? क्योंकि – 'अधर्म करके राजा स्वयं पाप का भागी बनता है और राज्य का सुख अन्य लोग भोगते हैं। जैसे सिंह हाथी का वध कर डालता है, किन्तु उसे कुछ लाभ नहीं होता।' और – 'भूमि के किसी उपजाऊ अंश के नाश और किसी बुद्धिमान सेवक का नाश राजा की मृत्यु के समान है। क्योंकि नष्ट भूमि फिर मिल सकती है, किन्तु मरा हुआ सेवक फिर नहीं लौट सकता।'

दमनक बोला – ''प्रभो ! यह आपकी कौन-सी नयी नीति है, जो आप शत्रु को मारकर सन्ताप कर रहे हैं? कहा भी है – 'अपना हित चाहनेवाले राजा को चाहिए कि पिता, भाई, पुत्र या मित्र – किसी भी शत्रुता करनेवाले को मार डाले।' और –

धर्मार्थकामतत्त्वज्ञो नैकान्तकरुणो भवेत्।
नहि हस्तस्थमप्यन्नं क्षमावान् भक्षितुं क्षमः ।।

– 'धर्म, अर्थ तथा काम के तत्त्व के ज्ञाता को चाहिए कि वह सर्वथा दयालु ही न बन जाय। क्योंकि विशेष दयावान व्यक्ति हाथ में रखे हुए अन्न तक को नहीं खा सकता।' और भी –

क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम्।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ।।

– 'शत्रुओं तथा मित्रों पर समान रूप से दया करना साधुओं को ही शोभा देता है, परन्तु राजा यदि अपराधियों पर दया करे, तो यह उसका दोष ही माना जाएगा।' और – 'जो व्यक्ति राज्य के लोभ से या अहंकारवश अपने स्वामी का पद चाहता है, तो इस पाप का एकमात्र प्रायश्चित यह है कि वह अपना प्राण त्याग दे।' और – 'दयालु राजा, सर्वभक्षी ब्राह्मण, स्वतंत्र स्त्री, दुष्ट सहायक, अवज्ञा करनेवाला सेवक और भूल करनेवाला अधिकारी और उपकार न माननेवाला व्यक्ति सर्वथा त्याज्य है।' विशेष करके –

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुर-रत्न-धनागमा च
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ।।

– 'कहीं वह सच का आश्रय लेती है, तो कहीं झूठ का; कहीं कठोर हो जाती है, तो कहीं कोमल; कहीं हिंसक, तो कहीं दयालु; कहीं कृपण हो जाती है, तो कहीं नित्य शाहखर्च करनेवाली और कहीं अधिकाधिक धन एकत्र करनेवाली वेश्या के समान राजनीति भी अनेक रूपोंवाली होती है।' ''

इस तरह दमनक के समझाने पर पिंगलक को शान्ति मिली और वह अपने सिंहासन पर जा बैठा। दमनक प्रसन्न मन से 'महाराजा की जय हो', 'सारे जगत् का कल्याण हो' – कहकर सुखपूर्वक अपने आसन पर बैठ गया।

विष्णु शर्मा ने पूछा – ''आप लोगों ने सुहृद्-भेद सुन लिया न?'' राजकुमारों ने कहा – ''आपकी कृपा से सुन लिया। हम सब बड़े आनन्दित हुए।'' विष्णु शर्मा बोले – ''तो यह भी हो – 'आपके शत्रुओं के घर में फूट हो, दुष्टजन नित्यप्रति काल की ओर अग्रसर हों, आपकी प्रजा समस्त सुख और सम्पत्तियों से परिपूर्ण रहे और हमारे इस सुन्दर कथा के उपवन में बच्चे भी रमण करें।' ''

❖ (क्रमशः) ❖

मानवता की झाँकी (१)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'मानवता की झाँकी' नाम से अपने भ्रमण के दौरान हुए उत्कृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध किया था, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इन प्रेरक व रोचक घटनाओं को हम क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

अशिक्षित, पर सुसंस्कृत पहाड़ी दम्पति

वर्षों पुरानी बात है। एक संन्यासी पर्यटन करते हिमालय पर्वत में टिहरी-गढ़वाल जा रहा था। पहाड़-जंगलों में से विचरते विचरते वह रास्ता भूल गया और उसे न कोई गाँव मिला न कोई आदमी, जंगल में ही रहना पड़ा। कपड़े के जूते फट जाने से फेंक दिए गए थे। पगडण्डी पर नंगे पैर और नुकीले कंकड़ों के ऊपर चलने से पाँव के तलुए की चमड़ी में असह्य जलन होने लगी। पहले कभी वह इस प्रकार खाली-पाँव चला नहीं था, इसलिए बड़ी तकलीफ होने लगी और शाम तक तो दोनों पैरों की तलवों में फफोले पड़ जाने से वे साइकिल के रबर-ट्यूब की तरह फूल गईं – अब क्या किया जाय? अंगोछा फाड़कर दोनों पैरों में बाँध लिया और ठण्डे पानी से भिगोकर कुष्ठ-रोगियों की भाँति मुश्किल से चलने लगा। परन्तु गाँव में कोई मिला नहीं और रात में जंगल-विभाग वालों की एक अर्धनिर्मित कोठरी में ठहर गया, चारों और था घनघोर जंगल और पास से होकर बह रही थी छोटी स्वच्छ-सलिला पहाड़ी नदी ! दृश्य अतीव मनोरम था, परन्तु अन्न के बिना, भूख के मारे, पेट में मानो हल्दीघाटी की लड़ाई चल रही थी और पैरों में असह्य जलन ! इसलिए सौन्दर्य-बोध होने पर भी, कष्ट की तीव्रता के कारण वह आनन्द नहीं ले सकता था।

रात में अग्नि प्रकट करके पाँवों को खूब सेंका, सोचकर कि शायद इससे सूजन बैठ जाएगा, पर कुछ न हुआ। उधर भूख मिटाने के लिए बर्फीला पानी अधिक पी जाने से पेट भी दुखने लगा। इसी तरह रात बीत गई। सुबह निरुपाय होकर, पूर्ववत् ही फिर कपड़े भिगोकर पैरों में पट्टियाँ बाँध लीं और नदी के किनारे किनारे कंकड़ों से पटी हुई पगडण्डी से होकर लँगड़ाते हुए मुश्किल से चलने लगा। लगभग दोपहर को एक पहाड़ी झोपड़ी नजर आई। वहाँ तीन-चार जन स्त्री-पुरुष और ९-१० साल का एक बालक भी था। बैलों को चलाकर उससे धान की मँड़ाई कर रहे थे। बड़े प्रेम से उन लोगों ने संन्यासी का स्वागत किया, बैठाया और प्रणाम करके पूछा – "रात में इधर कहाँ रह गए थे आप? यह तो आम रास्ता नहीं है। कहाँ से इस जंगल की बाट में आ गए? कल आप कहाँ ठहरे थे?" संन्यासी ने सारी बातें सुनाई, तो वे बड़े दुखी हुए और विनयपूर्वक कहा – "यहीं ठहरिए, रोटी खाकर जाइयेगा, हमारा गाँव दूर नहीं है !" कितना दूर है – संन्यासी के पूछने पर ऊँचे पहाड़ की ओर दिखाकर कहा – "डेढ़ कोस होगा।" "टिहरी के ही रास्ते पर है या नहीं" – पूछने पर कहा – "नहीं, दूर पड़ता है।" और बालक से कहा, "तू जल्दी जा, घर से आटा ले आ।" डेढ़ कोस की खड़ी चढ़ाई करके वह बालक गाँव जाएगा और फिर आटा लेकर आयेगा, तब रसोई होगी और संन्यासी को भिक्षा खिलाएँगे ! दोपहर तो हो चुकी थी। बालक शायद शाम तक लौटकर आ सके, पर संन्यासी के लिए तब तक ठहरना सम्भव नहीं था। उसने सौजन्य के लिए बहुत खुशी जताकर, आशीर्वाद देने के बाद, टिहरी के रास्ते पर के अगले गाँव की दूरी पूछकर चल पड़ा। उन पहाड़ी सज्जनों ने ठहरने के लिए बड़ा आग्रह किया, पर संयोग ऐसा था कि संन्यासी स्वीकार नहीं कर सका।

पहाड़ी ने रास्ता बताकर कहा – गाँव अब खास दूर नहीं है, पास ही है, नदी का किनारा छोड़कर ऊपर चढ़ते समय कमण्डलु में पानी भर लेना, क्योंकि बीच में पानी नहीं है।

संन्यासी ने वैसा ही किया। पर चढ़ाई बहुत थी और गाँव भी काफी दूर था। पहले ही दिन से बिना-अन्न होने से तथा केवल बर्फीला पानी पीने से पेट में चूँक आने के कारण बड़ी कमजोरी का बोध तो हो ही रहा था, फिर मध्याह्न-सूर्य के उग्र ताप में इस खड़ी चढ़ाई ने उसे बिल्कुल परेशान कर दिया। परन्तु दूसरा उपाय ही क्या था? पीते पीते कमण्डलु का पानी भी खत्म हो गया। अब प्यास के मारे गला सुखने लगा, जीभ अन्दर खिंचने लगी। चलने में तकलीफ तो थी ही, पाँवों की वैसी हालत बड़ी दुखदायी प्रतीत होने लगी, पर उपाय क्या था? मन में यही विचार – कहीं जरा-सा पानी मिल जाता ! और कुछ नहीं, परन्तु पानी कहीं नजर नहीं आया। बड़े कष्ट से जब पहाड़ी की चोटी पर चढ़ा, तो देखा कि वहाँ ८-१० घरोंवाला एक छोटा-सा गाँव है, परन्तु जनशून्य था वह गाँव ! सारे गाँव में घूमा, पर कहीं भी पानी न मिला, न कोई मनुष्य उधर आया, जिससे कुछ पूछ भी सकें। अब तो चक्कर आने लगा था और ऐसा प्रतीत होने लगा कि प्राण निकल जाएँगे।

निराश होकर उस गाँव के बाहर एक विशाल वटवृक्ष के नीचे कम्बल बिछाकर अन्तिम साँसें लेने के लिए लेट गया। बैठने की ताकत भी न थी। हिमालय के एक निर्जन कोने में शेष मुहूर्त की प्रतीक्षा करते हुए संन्यासी ने मन-ही-मन सोचा कि परमेश्वर की यही मर्जी होगी और इष्ट-स्मरण कर आत्मभाव में स्थिर रहने का प्रयत्न करने लगा। तभी कोई ढाई-तीन सौ

गज के फासले पर स्थित विशाल खाई के अन्दर से कुछ लोगों की आपस में बातें करने की आवाज सुनाई दी। (खाई मील-भर गहरी थी, जिसके नीचे नदी का उग्र प्रवाह था और सामने ऊँचे ऊँचे पहाड़ थे)।

आवाज सुनते ही पानी के लिए अन्तिम प्रयास करने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई और संन्यासी उठकर चलता हुआ खाई की ओर गया, परन्तु खड़े खड़े नीचे खाई की ओर देखने की सामर्थ्य तो थी नहीं, अत: लेटकर देखा तो करीब ८-९ सौ गज नीचे खाई में एक छोटा-सा पहाड़ी मकान था और कई लोग बैठे रोटी पका रहे हैं तथा बातें कर रहे हैं। प्यास से गला सूख गया था तथा आवाज लगभग रुँध गयी थी, इसलिए एक कपड़ा हिलाकर उन लोगों की दृष्टि आकर्षित करने की चेष्टा करने लगा, जिसमें जल्दी से सफल भी हुआ। छोटे बच्चों की नजर ऐसी चीजों पर झट जाती है, ऐसा ही हुआ, बच्चों ने देख लिया और ऊँगली से सबको दिखाने लगे। वे उधर बुलाने लगे, संन्यासी ने कमण्डलु दिखाकर पानी के लिए इशारा किया। उन्होंने घड़ा उठाकर बताया कि पानी है और हाथ उठाकर बुलाने लगे। उन्हें कैसे समझाया जाय कि उधर आने की शक्ति नहीं है?

इतने में एक पहाड़ी देवी बाहर आयी और एक आदमी को ऊपर संन्यासी के पास जाने को कहने लगी। वह पत्थर तथा झाड़ियों की जड़ें पकड़ते हुए ऊपर चढ़ आया और बड़े विनयपूर्वक नीचे मकान में जाने को आग्रह करने लगा। वह था मकान-मालिक और उक्त देवी थी मालकिन – "आज गृहप्रवेश के शुभ मुहूर्त पर हम पाँच ब्राह्मणों को जिमा रहे हैं, आप भी पधारें, भोजन-पानी सब तैयार है, कृपा करें।" संन्यासी ने बड़ी कठिनाई से अपनी शारीरिक हालत और वैसे उतरने की असमर्थता बताई, तो उसने कहा, "मैं आपको पीठ पर उठाकर ले जाऊँगा, भय की कोई बात नहीं, रास्ते से जाने में बड़ी देर लगेगी, क्योंकि वह लगभग एक गाँव (दो मील) का चक्कर है।" – पर इसमें पूरा जोखिम था। आज शुभ दिन में यदि कुछ अघटन घट जाय, तो उनके दुख की सीमा नहीं रहेगी। अन्त में उसके बारम्बार कहने पर, संन्यासी 'जय भगवान' कहकर तैयार हो गया और उसके साथ उसकी मदद से धीरे धीरे वैसे ही पत्थर और वृक्षों की जड़ें आदि पकड़-पकड़कर सही सलामत नीचे उतर गया। बच्चे अपनी अम्मा के साथ दौड़े आए, हाथ से कमण्डलु तथा पुस्तकों की छोटी-सी थैली और कन्धे से कम्बल ले लिया। पति-पत्नी – दोनों जन ने पकड़कर बड़े प्रेम से बैठने की जगह पर ले जा बैठाया। पैरों में फटे कपड़े की पट्टी बँधी हुई देखकर देवी ने पूछा – ऐसा क्यों बाँध रखा है? जब खोलकर दिखाया तो रबर के ब्लैडर की तरह दोनों पैरों के नीचे फफोले देखकर वह सहसा चौंक उठी और बोली, "यह क्या? अहा, बड़ी तकलीफ होती होगी! आप जूते नहीं पहनते क्या? पहाड़ पर कंकड़ों में चलने की आदत नहीं है, इसलिए ऐसे फफोले पड़ गए हैं। लाओ जरा गरम पानी से धो दूँ और गरम तेल चुपड़ दूँ, इससे कुछ आराम रहेगा।" ऐसा कहकर वह गरम पानी तथा तेल लेने के लिए घर में गयी और तुरन्त लेकर हाजिर हो गयी। धीरे धीरे गरम पानी का झारा मारकर, फिर आहिस्ता नरम हाथ से वह गरम गरम तेल की मालिश करने लगी।

उधर ठण्डा जल पीकर संन्यासी जरा स्वस्थ हो गया था और इतना अभावनीय प्रेमल सत्कार पाकर उसकी आँखों से आँसू झर रहे थे। अर्धनग्न और आपात् दृष्टि से असंस्कारी जैसे पहाड़ी भाई-बहनों में इतना प्रेम! इतना सौजन्य! सैंकड़ों वर्षों से अक्षर ज्ञान के संस्पर्श से रहित और बाकी सभ्य समाज से दूर रहकर भी ये लोग आर्य ऋषियों द्वारा प्रदर्शित सदाचार भूले नहीं हैं। धन्य भारत-माता! धन्य ऋषियों के वंशज!

आँखों में आँसू देखकर उस सद्-नारी को लगा कि बड़ी पीड़ा हो रही है और वह बारम्बार कहने लगी – "अभी राहत महसूस होगी और भोजन तैयार है, श्रीनारायण को भोग लगते ही पहले आपको परोसूँगी, आप भोजन करके आराम करना। ... परमेश्वर की बड़ी कृपा है, मैं बहुत दिनों से कह रही थी कि अपने नए घर में प्रवेश के समय पाँच ब्राह्मणों के साथ एक संन्यासी भी भोजन पावे, तो बड़ा आनन्द हो। सो आप आ गए। वे (पतिदेव) तो कह चुके थे कि ऐसे सामान्य प्रसंग में कोई भी संन्यासी यहाँ नहीं आएगा, पर परमेश्वर ने मेरी प्रार्थना सुनी और आप आ गये। ... क्यों सच है या नहीं?" – कहते हुए वह पतिदेव की तरफ देखकर हँसी। ... "आप हमारे लिए ही इधर आ पहुँचे, वरना यह तो जंगल की बाट है और इधर से होकर कोई भी टिहरी नहीं जाता।"

संन्यासी स्तब्ध होकर सुन रहा था और मन-ही-मन सोच रहा था – "तुम्हारे लिए मुझे आना पड़ा या मेरे लिए ही तुम सभी आये हो? ऐसा लगता है कि तुम्हारी आन्तरिक प्रार्थना के कारण ही दैव-निर्देश से रास्ता भूलता हुआ, भटकता हुआ ठीक समय पर यहाँ आ पहुँचा? खैर, आज जीवन के अन्तिम समय पर, जब मृत्यु सामने हाजिर दिखती थी – तुम लोगों की इस स्थल पर उपस्थिति तथा आदर-सत्कार ने संजीवन का काम किया, प्राण रह गए, आगे प्रभु की जैसी मर्जी!"

इस सारे प्रसंग में मानवता का एक उत्तम दृष्टान्त है।

"गाँव में कोई रहता क्यों नहीं?" – पूछने पर संन्यासी को मालूम हुआ कि यह 'बरसाती' गाँव है अर्थात् पानी न होने के कारण बरसात में ही लोग यहाँ आ बसते हैं और खेत आबाद करते हैं। पानी एक मील नीचे नदी में है, वर्षा ऋतु में झरने और कुण्ड भर जाते हैं, तब आदमी आ बसते हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि और अर्जुन का विषाद

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में *'भगवद्गीतांचा अन्तरंगात'* अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम जनवरी अंक से क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

वृद्ध नरेश को लगा होगा कि युद्ध की तीव्र आकांक्षा से कुरुक्षेत्र में एकत्र हुए उनके पुत्रों का मन कौन जाने कहीं वहाँ के धार्मिक परिवेश से प्रभावित होकर बदल ही गया हो। और अपने नहीं, तो सम्भव है कि पाण्डु के पुत्र ही कहीं उस रणभूमि के धार्मिक परिवेश से प्रभावित हो युद्ध का इरादा छोड़ चुके हों। इस तरह की कल्पना के साथ वृद्ध धृतराष्ट्र पूछते हैं – "हे संजय, प्राचीन काल से धर्मक्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध उस कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए एकत्र मेरे व पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?"

धृतराष्ट्र ! बे-पेंदी के लोटे ! उन्हें लग रहा था कि युद्ध नहीं होना चाहिए और फिर ऐसा भी लग रहा था कि युद्ध तो होना ही चाहिए।

* * *

कुरुक्षेत्र की रणभूमि में कौरवों और पाण्डवों की सेना युद्ध की पूर्ण तैयारी के साथ आमने-सामने खड़ी थी। विशिष्ट व्यूह-रचना के साथ खड़ी पाण्डवों की सेना की ओर दृष्टि डालते हुए दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास जाकर कुछ जानकारियाँ, कुछ सूचनाएँ और युद्ध के लिए स्फूर्ति देने लगा।

अपने और पाण्डवों की ओर से लड़ने के लिए कौन कौन आया है, अपने पक्ष की और पाण्डवों की सेना कितनी कितनी है? हम सबको अपने सेनापति भीष्म की भलीभाँति रक्षा करनी होगी – आदि बातें क्या द्रोण को ज्ञात नहीं होंगी? पर दुर्योधन से रहा नहीं गया। दोनों पक्षों में से और किसी के भी कुछ हलचल करने के पूर्व ही पहले दुर्योधन ने स्वयं ही इस दिशा में आगे कदम बढ़ाया। इस घटना से दुर्योधन के मन पर कितना सुन्दर प्रकाश पड़ता है। युद्ध की तीव्र इच्छा, लड़ने की अधीरता, पाण्डवों का विनाश करने की उत्कण्ठा, सफलता के बारे में उसके मन में गहराई तक चुभनेवाला भय – उसके इस व्यवहार से पराजय के विषय में उसके मन में छिपी हुई आशंका कितनी स्पष्ट दीख पड़ती है। युद्ध किसे चाहिए था, युद्ध करने के लिए वस्तुत: कौन अधीर हो गया था – यह सिद्ध करने के लिए इस ठोस मनोवैज्ञानिक सबूत के अलावा अन्य किसी साक्ष्य की जरा भी आवश्यकता नहीं।

और उसी समय, ऐसी परिस्थिति के बीच भी, दुर्योधन जिन द्रोणाचार्य के हाथों का सहारा लेना चाहता था, 'द्विजोत्तम' कहकर उन्हीं पर कटाक्ष भी करता है ! फिर यह कहकर उन पर ताना भी मारता है – "अपने बुद्धिमान शिष्य धृष्टद्युम्न द्वारा – आपको मारने के लिए की हुई अपने शत्रु-सेना की व्यूह-रचना देखिए।" हर व्यक्ति का अलग अलग स्वभाव है।

* * *

और उस युद्ध-लोलुप दुर्योधन की उस विचित्र, विकृत, परन्तु व्याकुल मन:स्थिति को देखकर भीष्मदेव ने उसे हर्षित करने के लिए सिंह के समान प्रचण्ड गर्जना के साथ शंख फूँका।

कुरुवृद्ध, पितामह भीष्म भूल ही गए कि अपने इस कृत्य से वे युद्ध आरम्भ करने का आदेश दे रहे हैं। भीष्म इतने निपुण योद्धा हैं, उनका सारा जीवन युद्ध में ही बीता है, परन्तु वे भी बौखला गए हैं। और इतिहास में अंकित हुआ कि महाभारत के युद्ध की, उस अभूतपूर्व नरसंहार की, उस घोर नरमेध की शुरुआत कौरवों ने की !

सचमुच ही, यदि उत्तेजित न होकर, प्रथम शंखनाद करने की जल्दबाजी भीष्मदेव ने न की होती, तो पाण्डव कितनी विचित्र दुविधा में पड़े होते !

पाण्डव इसी की राह देख रहे थे। उनका सेनापति धृष्टद्युम्न अपनी सेना की व्यूह-रचना करके शान्त खड़ा था। उसकी, स्वयं पाण्डवों और उनके पक्ष के सभी लोगों की दृढ़ भावना थी कि अब आगे जो कुछ करना है, वह भगवान श्रीकृष्ण करेंगे। शंखनाद, जो युद्धारम्भ का संकेत है, वह स्वयं श्रीकृष्ण ने नहीं किया और उनके क्रिया-कलापों की ओर ध्यान देते हुए पाण्डवों की ओर से अन्य किसी ने भी – स्वयं सेनापति तक ने भी – नहीं किया। दोनों पक्षों की अठारह अक्षौहिणी सेना का प्रत्येक सैनिक युद्ध की कल्पना मात्र से थर्रा रहा था। सारा वातावरण ही मानो कम्पायमान हो रहा था, परन्तु वहाँ केवल एक व्यक्ति ही किसी भी बात से बेअसर होकर निष्कम्प खड़ा था – पार्थसारथी भगवान श्रीकृष्ण !

परन्तु दुर्योधन धैर्य नहीं रख सका ! भीष्मदेव भी विवेकशील न रह सके ! और भीष्म द्वारा इस प्रकार रणवाद्य बजाते ही उनके पक्ष के वीरों ने **सहसा एव** – सहसा ही जो भी रणवाद्य हाथ में थे, उन्हें बजाना शुरू कर दिया। सब कुछ मानो पहले से ही तैयार था। भीष्म के संकेत मात्र की देर थी कि सबने

सहसा सभी रणवाद्यों को बजाकर **तुमुल** कोलाहल मचा दिया। कौरव पक्ष द्वारा किये गए इस रणनाद को 'सहसा एव' इन दो अर्थसूचक शब्दों द्वारा वर्णन कर संजय ने कौरव पक्ष के वीरों की मन:स्थिति को बड़ी सुन्दर रीति से चित्रित किया है।

* * *

कोलाहल थोड़ा शान्त होते ही, भीष्म द्वारा दी गई युद्ध की चुनौती को स्वीकार करते हुए पाण्डवों की ओर से भी शंख बजे। पर उनके सेनापति धृष्टद्युम्न ने नहीं, बल्कि – माधव ने ! सर्वप्रथम श्रीकृष्ण ने ही अपना दिव्य शंख फूँककर उस चुनौती को स्वीकार किया। एक हाथ से अर्जुन के उस भव्य रथ में जुते श्वेत अश्वों की लगाम सँभालते हुए और दूसरे हाथ से शंख बजाकर भगवान श्रीकृष्ण ने शान्तिपूर्वक युद्ध की उस चुनौती को स्वीकारा। उस शंखनाद से निर्मित वातावरण का वर्णन करते समय संजय ने श्रीकृष्ण के शंख को 'दिव्य' विशेषण से विभूषित किया है। तब अर्जुन आदि अन्य पाण्डवों तथा उनके पक्ष के वीरों ने श्रीकृष्ण का अनुसरण करते हुए अपने अपने शंख बजाए, परन्तु सहसा नहीं। युद्ध के लिए वे जरा भी अधीर नहीं थे। उन्होंने केवल शान्ति के साथ निर्भयता-पूर्वक भीष्म की उस चुनौती को स्वीकारा।

पाण्डव-वीरों द्वारा किया गया शंखनाद भी तुमुल था। पर इतना कहकर ही संजय रुके नहीं। वे आगे कहते हैं – "उस ध्वनि से धृतराष्ट्र-पुत्रों के हृदय विदीर्ण हो गए।" अन्याय करनेवालों, पापियों तथा अपराधियों के साथ ऐसा ही हुआ क़रता है। चोर की दाढ़ी में तिनका होता है न ! नहीं तो तुमुल शंखनाद तो उनके पक्ष के लोगों ने भी तो किया था, परन्तु उससे पाण्डवों के हृदय कहाँ विदीर्ण हुए थे?

– २ –

कौरव-सेना युद्ध के लिए सज्ज थी। यह सोचकर कि अब शीघ्र ही अस्त्र-शस्त्रों की मारकाट के साथ घमासान युद्ध शुरू होगा, अर्जुन ने अपना धनुष उठाकर कहा – 'हे अच्युत, मैं देखना चाहता हूँ कि मुझे किस किस से युद्ध करना है, अत: मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच ले जाकर खड़ा करो। मैं जानना चाहता हूँ कि दुर्बुद्धि दुर्योधन का पक्ष लेकर युद्ध की तीव्र आकांक्षा से आज कौन कौन यहाँ एकत्र हुए हैं।"

* * *

अर्जुन को इस बात की पूरी जानकारी थी कि मुझे युद्ध करना है, इस युद्ध में मुझे भीष्म-द्रोणादि गुरुजनों के साथ दो दो हाथ करने पड़ेंगे, स्व-पर-पक्ष के असंख्य सगे-सम्बन्धियों की इस रणकुण्ड में आहुति पड़ेगी। वे इस स्पष्ट धारणा के साथ ही स्वधर्म का पालन करने हेतु आज युद्ध के लिए आये थे। और शंखनाद के द्वारा चुनौती-स्वीकृति के बाद वे युद्ध के लिए उत्सुक भी हो गये थे। वे स्वयं ही श्रीकृष्ण को अपना रथ दोनों सेनाओं के बीच ले जाने के लिए कह रहे थे, ताकि वे देख सकें कि उन्हें किस किस के साथ लड़ना है।

उनके निर्देशानुसार श्रीकृष्ण ने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया और 'ये रहे युद्धार्थ एकत्र हुए कौरव' – कहकर अर्जुन को वह सैन्य-समुद्र दिखाया।

ऊपर बताया जा चुका है कि पाण्डवों की सेना देखकर दुर्योधन के मन में क्या प्रतिक्रिया हुई तथा उसने क्या किया। इधर कौरवों की सेना देखकर अर्जुन के मन में विचित्र उथल-पुथल मची, इतनी कि उस विराट्, प्रचण्ड खलबली को शान्त करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण को अपना योग-ऐश्वर्य भी दाँव पर लगाना पड़ा और जगत् को, हम-आप महा-भाग्यवानों को अजर, अमर और बेजोड़ इस भगवद्गीता की प्राप्ति हुई।

* * *

"ये रहे युद्धार्थ एकत्र हुए कौरव" – कहकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कौरवों की सेना दिखाई। पर अर्जुन को वहाँ न केवल दुर्योधन आदि कौरव, भीष्म, द्रोण आदि दिखे, बल्कि उन्हें वहाँ भाई, गुरु, मित्र और रिश्तेदार भी दिखे ! और तब क्या हुआ? उन सगे-स्वजनों को देखकर अर्जुन का अन्त:करण अपार करुणा से अभिभूत हो गया। – मुझे अपने इन सगे-स्वजनों को मारना होगा? – मेरे ये सभी सम्बन्धी नष्ट हो जाएँगे? करुणा से, दया से भरे हुए अर्जुन से सहसा यह विचार भी नहीं किया जा सका। सहसा अपार विषाद ने उन्हें आच्छन्न कर लिया। अर्जुन अगाध शोक-सागर में डूब गए।

अर्जुन के मन में जो उथल-पुथल मची थी, जो शोक हुआ था – उसकी कल्पना उन्हीं के उद्गारों से की जा सकती है। युद्ध अर्थात् मृत्यु का वरण करने को खड़े अपने स्वजनों को देखकर उनके हाथ-पैर जड़-से हो गए, उन्हें विचित्र थकान का बोध होने लगा, मुँह सुख गया; देह काँपने लगी, रोंगटे खड़े हो गए और जिसकी टंकार से बड़े बड़े रणबाँकुरों के दिल भी काँप उठते थे, वही गाण्डीव उनके हाथ से फिसलकर गिरने लगा। उनके पूरे शरीर में दाह होने लगा। मस्तिष्क भ्रमित-सा हो गया। वे ठीक ढंग से बैठ भी नहीं पा रहे थे।

ऐसी विलक्षण मनस्थिति में अर्जुन कहने लगे – "हे कृष्ण, मुझे कैसे कैसे अपशकुन दिखने लगे हैं। मुझे नहीं लगता कि अपने ही लोगों का नाश करके अपना भला होगा। मुझे विजय नहीं चाहिए, राज्य नहीं चाहिए, सुख नहीं चाहिए, मुझे जीने तक की इच्छा नहीं है। बित्ते भर राज्य के लिए तो क्या, पूरे त्रिलोक का आधिपत्य भी मिले तो भी मैं इन स्वजनों को नहीं मारूँगा। धृतराष्ट्र के पुत्र दुष्ट हैं, आततायी हैं, लोभी हैं, पर वे हैं तो अपने ही न? यदि उन्हें नहीं समझता कि इस युद्ध से अपना कुल नष्ट होनेवाला है, तो क्या हमें भी नहीं समझना चाहिए? कुल-क्षय कितना बड़ा पाप है ! नरक का साधन है !

छी ! छी ! राज्य-सुख के लोभवश ही हम अपने सगे-स्वजनों को मारने के लिए उद्यत होकर कितना बड़ा पाप करने को खड़े हैं? हे कृष्ण, मैंने ये शस्त्र नीचे रख दिये हैं। धृतराष्ट्र के पुत्र आकर मुझे खुशी खुशी मार डालें।''

अर्जुन आगे कुछ बोल नहीं सके। उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया, रुलाई आ गई, उनके शोक का ठिकाना न रहा। इतने महान् वीर अर्जुन के नेत्रों से अजस्र अश्रु टपकने लगे।

* * *

वस्तुत: अर्जुन राज्य-सुख भोगने की इच्छा से प्रेरित होकर वहाँ युद्ध करने नहीं आए थे। उत्पन्न हुई परिस्थिति में स्वधर्म का पालन करने की इच्छा से ही वे कुरुक्षेत्र में आए थे। वे भगवान श्रीकृष्ण के सखा थे, भगवान के लीला-सहचर थे – एक अवतार के अन्तरंग अनुचर थे। उसके जीवन का उद्देश्य था – स्वधर्म के आचरण से चित्त को शुद्ध करके सत्य-स्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति करना। अर्जुन एक उच्च श्रेणी के साधक थे। वे अब जिस युद्ध को 'पाप' 'नरक' का मार्ग कह रहे हैं, कुछ क्षणों पूर्व वही युद्ध उन्हें स्वधर्म लग रहा था। फिर इसी बीच ऐसा क्या हो गया, जो वे स्वधर्म को राज्य-सुख-भोग की इच्छा, पाप आदि कहने लगे? उसे सहसा इतना शोक क्यों होने लगा? इतना विषाद क्यों होने लगा?

संजय बताते हैं – दोनों ओर अपने स्वजनों, बान्धवों, नातेदारों, निकट तथा दूर के सारे सगे-सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन के हृदय में **परा कृपा** – परम करुणा उत्पन्न हुई। वे बारम्बार कहने लगे – **दृष्ट्वा मे स्वजनं कृष्ण, हत्वा स्वजनम् आहवे, स्वजनं हि कथं हत्वा ...** – ''ये सभी मेरे अपने हैं, मैं इनका हूँ, इन्हें कैसे मारूँगा !'' पहले का स्वधर्म, अब केवल राज्य-सुख-भोग हेतु किया जानेवाला पाप लगने लगा।

* * *

परन्तु भगवान श्रीकृष्ण की दृष्टि में कुछ और ही आया। जिसे अर्जुन परम करुणा समझ रहे थे, उसे हृदय की हेय दुर्बलता मात्र बताकर भगवान उन्हें तत्काल उसे त्याग देने को प्रेरित करने लगे। ''पार्थ, यह कैसा समय है, इस ओर ध्यान दो'' – ऐसा कहकर उन्होंने अर्जुन के मन पर परिस्थिति की गम्भीरता अंकित करने का प्रयास किया, उन्हें नामर्द कहकर देखा, सदा के लिए बदनामी का भय दिखाया, पर अर्जुन पर इन सबका जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा। इन सभी प्रश्नों के लिए अर्जुन का एकमात्र उत्तर था – ''जिनकी मुझे पुष्पों से पूजा करनी चाहिए, क्या उन भीष्म तथा द्रोण पर मुझे बाण चलाने होंगे?'' क्या अर्जुन को पहले से ज्ञात न था कि इस युद्ध में उन्हें भीष्म-द्रोण पर बाण चलाने होंगे? पर बीच में ही उनके मन में कुछ ऐसा हुआ कि भीष्म-द्रोण अब उसे परम पूजनीय लगने लगे। उन्होंने और भी कहा – ''इन परमश्रेष्ठ गुरुजनों को मारकर रक्तरंजित राज्य को जीतकर उसे भोगने की अपेक्षा भिक्षावृत्ति के सहारे ब्रह्मध्यान में जीवन बिताना श्रेयस्कर है।'' आज तक अर्जुन के मन में कभी जिस संन्यास-जीवन का विचार तक नहीं आया था, अब सहसा उन्हें वही श्रेष्ठ लगने लगा। उसके मन में ऐसा कुछ हो गया कि पूरा जन्म युद्ध में व्यतीत करनेवाले अर्जुन को अब सहसा केवल ब्रह्म-ध्यानमय, सर्वसंग-परित्यक्त संन्यास-जीवन में ही सौन्दर्य दिखने लगा।

– ३ –

ऐसा कैसे हुआ?

अर्जुन को जिन लोगों से लड़ना था, उन्हें देखने हेतु दोनों सेनाओं के मध्य-भाग में खड़े होकर दोनों ओर अपने स्वजनों को देखकर उनका अन्त:करण जिस भावना से भर गया था, उसे संजय ने **परा-कृपा** – असीम करुणा या दया कहा है।

ऊपरी तौर से देखने पर संजय द्वारा उस भावना का यह वर्णन सही लगता है। पर अर्जुन की उस भावना या मनोवृत्ति का थोड़ा-सा विश्लेषण करने पर, क्या दिखाई देता है?

रणभूमि में आने के पूर्व और वहाँ आने के बाद भी अर्जुन युद्ध का ही विचार कर रहे थे। यदि इतनी अपार करुणा या दया उनके हृदय में थी, तो उनके समर-क्षेत्र में आने के पूर्व या आने के बाद भी इतनी देर तक उसका जरा-सा भी संकेत उनके विचारों तथा आचरण या बोलचाल में नहीं दिखा?

वस्तुत: वह करुणा या दया थी ही नहीं। वह भावना क्या थी, यह अर्जुन के मुँह से बार बार निकल पड़नेवाले एक शब्द से भलीभाँति पता चल जाता है। वह शब्द था – **स्वजन।**

* * *

सभी जीवों के मन में रहनेवाली आत्मीय-स्वजन विषयक आसक्ति अर्जुन के हृदय में भी थी। स्वधर्म के रूप में युद्ध करने हेतु आकर प्रत्यक्ष रणक्षेत्र में जब उन्होंने दोनों सेनाओं की ओर देखा, उस समय उनका वह स्वजन-प्रेम, सम्बन्धियों के प्रति वह आसक्ति उफनकर ऊपर आ गयी।

आसक्ति से ग्रस्त हुए अर्जुन ऐसा सोचकर कि – ''ये मेरे सगे-स्वजन हैं, मैं इन्हें कैसे मारूँ, युद्ध में इनका नाश होने वाला है'' – आदि विचारों से अत्यन्त शोकाकुल हो गये।

'मैं कौन हूँ? मेरा स्वधर्म क्या है? मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है?' – आदि बातों का बोध इस शोक ने न जाने कहाँ उड़ा दिया। अब अविवेक-ग्रस्त अर्जुन के पूरे अन्त:करण में एक ही भावना उमड़ने लगी – 'मैं इनका हूँ और ये मेरे हैं।'

और ऐसी मनस्थिति में, स्वत:प्रवृत्त होकर, **स्वधर्म** मानकर युद्ध करने आए अर्जुन ने **न योत्स्ये** – 'नहीं लड़ूँगा' – कहकर शस्त्रों को नीचे रख दिया। और, जो उसका धर्म नहीं था, उस संन्यास-जीवन – **परधर्म** का पालन करने को उद्यत हुए।

* * *

ऐसा ही हुआ करता है।

हम सभी के अन्त:करण में यह आसक्ति गहराई तक जमी रहती है। उस आसक्ति पर आघात हुआ, उस पर चोट पड़ी, उसके प्रवाह में बाधा आई, तो वह व्यक्ति को शोकाकुल कर देती है, शोक-विह्वल कर देती है। इस शोक के कारण मानव का विवेक नष्ट हो जाता है। यह जानने की या निश्चित करने की उसके मन की शक्ति खत्म हो जाती है, लुप्त हो जाती है कि इस परिस्थिति में उसके लिए क्या उचित व श्रेयस्कर है और क्या अनुचित या घातक है। और फिर उस विवेकहीन, मोहग्रस्त मन:स्थिति में व्यक्ति स्वधर्म का, स्व-स्वभाव नियत कर्म या कर्तव्य को त्यागकर, जो उसे नहीं करना चाहिए, जो उसका पथ नहीं है, उसी ओर मुड़ जाता है – कुमार्ग या गलत रास्ते पर चल पड़ता है। इसका कुफल उसे तत्काल तो नहीं मिलता, पर कभी-न-कभी तो भोगना ही पड़ता है, क्योंकि स्वधर्म या कर्तव्य को त्यागकर वह परधर्म के, अपने स्वभाव-विरुद्ध कर्म में लग जाता है। बाद में उसे धीरे धीरे समझ में आने लगता है कि यह अपना कर्म नहीं है, यह अपना भाव नहीं है। उसका स्वभाव ही पग पग पर बाधाएँ डालकर उसके जीवन को नीरस, कड़वा, दु:खी तथा विषमय बना देता है। एक ओर स्वधर्म खो गया और दूसरी ओर परधर्म रुचता नहीं – कई बार ऐसी दयनीय स्थिति में पड़कर ठण्डी आहें भरते हुए, पश्चात्ताप के आँसू बहाते हुए, अन्तत: भारमय जीवन को किसी प्रकार खत्म करना ही व्यक्ति की नियति बन जाती है।

कल्पना करें कि आसक्ति-शोक-मोह से ग्रस्त अर्जुन यदि श्रीकृष्ण की बातों को न सुनकर, न मानते हुए युद्ध छोड़कर स्वयं के मतानुसार संन्यास-जीवन अंगीकार कर सतत ब्रह्मध्यान या ईश्वर चिन्तन में जीवन बिताने के लिए कुरुक्षेत्र से सीधे निर्जन वन या किसी ऋषि-मुनि के आश्रम में चले गये होते, तो उनके सुदृढ़ क्षत्रिय संस्कारों ने बाद में उनके मन तथा जीवन की कैसी भयंकर दुर्दशा की होती, इसकी कल्पना मात्र से ही शरीर में कँपकपी आने लगती है। अर्जुन, उनका जीवन, उनके जीवन का उद्देश्य, सब-का-सब खिलवाड़ – और खिलवाड़ ही नहीं बल्कि पूर्ण सर्वनाश हो गया होता। अर्जुन के सखा, उनके मार्गदर्शक, उनके जीवन-साथी श्रीकृष्ण को, आसक्ति-शोक-मोह से प्रेरित होकर जीवन बिताने पर आनेवाली इन अवश्यम्भावी घोर प्रतिक्रियाओं की पूरी कल्पना थी, इसलिए अहेतुक दया से द्रवित होकर वे उन्हें अति कठोर शब्दों में यह चेतावनी देना भी नहीं भूले – **अथ चेत् त्वम् अहंकारान् न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि** – "हे अर्जुन, मैं जो बता रहा हूँ, उसे न सुनते हुए, यदि तुम स्वयं को बड़ा होशियार – बुद्धिमान समझकर अपने ही मतानुसार चलोगे, तो फिर समझ लो कि तुम्हारे लिए कोई आशा नहीं है, समझ लो कि तुम्हारा सर्वनाश निश्चित है।"

– ४ –

तो फिर इस अनर्थ-परम्परा का मूल कारण क्या है? इसका **मूल कारण है – आसक्ति**।

और इसीलिए मानवी मन की गति, उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया के खेल को पूरी तौर से जाननेवाले भगवान श्रीकृष्ण इसकी **कश्मल, क्लैव्य, क्षुद्र-हृदयदौर्बल्य** – जैसे असंदिग्ध शब्दों में कठोर निन्दा करते हैं।

* * *

सब अनर्थों की मूल – इस आसक्ति का क्या कारण है? वह कहाँ से जन्म लेती है?

'मैं' और 'जगत्' आज जैसे प्रतीत हो रहे हैं, वैसे ही सत्य हैं – यह बोध ही इस आसक्ति का मूल कारण है। इस बोध से ही 'मैं' तथा 'मेरा' की भावना जन्म लेती है और यह भावना ही आसक्ति का मूल कारण है।

इस आसक्ति में यदि कोई बाधा नहीं आई, वह यदि पूर्ण हुई, उसे अबाध गति मिली तो व्यक्ति आनन्दित होता है। इस आनन्द का वह जितना ही आस्वादन करता है, उसकी आसक्ति उतनी ही अधिक बलवती होती जाती है। उतनी ही उसकी 'मैं-मेरा' की भावना – 'मैं' और 'जगत्' आज जैसे प्रतीत हो रहे हैं, वैसे ही सत्य है – यह बोध अर्थात् अविवेक सबल होता जाता है। और उतना ही उसको अपने जीवन के चरम उद्देश्य और उसकी प्राप्ति के मार्ग – स्वधर्म का विस्मरण होने लगता है। **इस विस्मरण को ही कहते हैं – मोह**।

यह मोह, जैसे आनन्द से जन्म लेता है, वैसे ही शोक या विषाद से भी जन्म लेता है। आसक्ति पूरी हुई, तो आनन्द होता है। यदि वह पूरी नहीं हुई, उस पर आघात हुआ, वह बाधित हुई, तो दु:ख-शोक का छा जाता है। शोक आसक्ति-जनित है, आसक्ति का ही एक रूप है, उसी का रूपान्तरण है – यह जानकर व्यक्ति उसे तत्काल न त्यागकर, यदि उस शोक का शिकार बन जाए, तो वह उसे अधिकाधिक ग्रसित करता जायेगा। फिर क्रमश: विवेक का लोप होकर अन्त में वह पूर्ण अविवेकी, पूर्ण मोहग्रस्त बन जाएगा – अपने जीवन का उद्देश्य, स्वधर्म आदि का उसे पूर्ण विस्मरण हो जाएगा।

इस प्रकार आसक्तिजनित लौकिक हर्ष तथा शोक – दोनों के प्रवाह में पड़कर व्यक्ति अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य को खो बैठता है। अर्जुन के जीवन में कुरुक्षेत्र में उनके शोक ने उनका सर्वनाश कराने की परिस्थिति ला दी थी।

* * *

अति कुशल मनोवैज्ञानिक, जीवन-विशारद भगवान श्रीकृष्ण ने यह सब देखा। उन्होंने जान लिया कि अर्जुन के मुँह का सूखना, उनके शरीर में होनेवाला यह कम्पन, '**स्वधर्म**' मानकर होनेवाला यह युद्ध – अब उसे केवल रक्तरंजित भोगों के लिए

होनेवाला पाप लगना, सहसा उसे यह भय लगना कि इस पाप के कारण कुलस्त्रियाँ-कुलधर्म-पितर आदि की अधोगति होगी, भीष्म-द्रोण के प्रति सहसा ही उमड़नेवाली उनकी पूज्य-बुद्धि, अचानक ही धृतराष्ट्र के पुत्रों के प्रति उत्पन्न होनेवाला वात्सल्य कि ये मूर्ख हैं पर अपने ही हैं, पहले कभी मन में न आनेवाले संन्यास-जीवन के प्रति उसे अनायास ही होनेवाला यह रुझान – ये सभी मन की गहराई में छिपे रोग लक्षण मात्र थे। उन्होंने देखा कि इन लक्षणों का उपचार करने से कोई लाभ होनेवाला नहीं है, क्योंकि परिस्थिति की गम्भीरता, बदनामी का भय, धिक्कार, तिरस्कार, प्रोत्साहन आदि सब व्यर्थ जा चुके हैं। वे समझ गए कि अब तो मूल रोग का ही इलाज करना होगा।

* * *

वह मूल रोग आसक्ति था और उस आसक्ति का कारण था – 'मैं' और 'जगत्' जैसा आज प्रतीत हो रहा है, वैसा ही सत्य है – इस बोध से उत्पन्न होनेवाली 'मैं-मेरे' की भावना।

इसीलिए भगवान ने अर्जुन को 'मैं' और 'जगत्' वस्तुत: क्या है, 'मैं' और 'मेरा' का सच्चा स्वरूप क्या है – यह बोध कराने की – या परिभाषिक शब्दों में कहा जाय, तो सम्यक्-दर्शन या ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान देने की – शुरुआत की।

* * *

बहुतों को लगता है कि रणभूमि में यह ब्रह्मज्ञान क्यों?

प्रश्न रणांगण, गृहांगण या क्रीड़ांगण का नहीं था। प्रश्न था अर्जुन के मन में उठे हुए तूफान के स्वरूप का – उनके मन में उठी हुई समस्या के स्वरूप का। उनके मन में उठी हुई समस्या कोई नैतिक स्वरूप की नहीं थी। समस्या यह नहीं थी कि लड़ना अच्छा है या बुरा, हिंसा उचित है या अनुचित। उनकी समस्या कोई राजनैतिक या आर्थिक स्वरूप की नहीं थी और उनकी समस्या सामाजिक स्वरूप की भी नहीं थी। अर्जुन युद्ध-तंत्र या अस्त्र-शस्त्र के अज्ञानवश विचलित नहीं थे। अपनी सेना का व्यूह ठीक ढंग से रचा गया है या नहीं, अपना सेनापति जैसा चाहिए वैसा है या नहीं, आदि चिन्ताओं से भी उनकी समस्या का निर्माण नहीं हुआ था। ऐसा भी नहीं था कि उन्हें युद्ध की, आक्रमण की या बचाव की बेहतर योजना की जरूरत रही हो। उन्हें यह विचार भी तंग नहीं कर रहा था कि अपनी सेना संख्या में कम है। **उसकी समस्या का जन्म हुआ था – आध्यात्मिक दृष्टिहीनता से।** मानवीय मन तथा जीवन के अपूर्व एवं सम्पूर्ण ज्ञाता योगेश्वर ने इसे तत्क्षण पहचाना और इसीलिए उन्होंने अर्जुन को उस समय यथावश्यक – अपरिहार्य रूप से आवश्यक मूलभूत आध्यात्मिक दृष्टि दी। यह समस्या अर्जुन के समक्ष कुरुक्षेत्र के रणांगण में उत्पन्न हुई, इसलिए श्रीकृष्ण ने वहीं पर उन्हें ज्ञान दिया। यह केवल संयोग ही था। वैसे यह समस्या जहाँ भी उसके सामने आती, भगवान ने उन्हें वहीं और यही ज्ञान दिया होता।

किसी अन्य उपाय, उपदेश या ज्ञान से अर्जुन की यह समस्या दूर नहीं होती। कौरव सेनानायक भीष्म द्वारा वहाँ दूत भेजकर युद्ध कुछ दिनों के लिए स्थगित करके घर लौट जाने से भी अर्जुन की समस्या का समाधान नहीं होता।

– ५ –

अर्जुन ने **स्वधर्म** के आचरण की प्रेरणा मात्र से ही कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर पाँव रखे थे। स्वधर्म अर्थात् जगत् या जीवन का अन्तिम सत्य – परब्रह्म या भगवान की प्राप्ति हेतु व्यक्ति के स्वभाव, मनोवृत्ति, प्रवृत्ति, संस्कार सामर्थ्य, रुचि आदि के अनुसार निश्चित की गई उसकी विशिष्ट जीवन-पद्धति।

स्वधर्म की प्रेरणा से प्रेरित होकर ही अर्जुन बड़े उत्साह के साथ रणक्षेत्र में आये थे। उन्हें स्वधर्म का अच्छा ज्ञान था।

पर अर्जुन के उदाहरण से स्पष्ट दिखता है कि केवल स्वयं के जीवनोद्देश्य तथा उसे पाने का मार्ग अर्थात् **स्वधर्म** के बारे में जानकारी होने से ही साधक सहज रूप से स्वधर्म का पालन करके अन्त में कृतार्थ हो जाय, ऐसा नहीं है।

अर्जुन के उदाहरण से स्पष्ट दिखता है कि इस बात की भी सम्भावना है कि व्यक्ति के मन में छिपी हुई असक्ति, वासना आदि न जाने कब प्रकट होकर उसका मार्ग अवरुद्ध कर देगी – उसे स्वधर्माचरण से विरत कर देगी। और यह आसक्ति, ये विभिन्न वासनाएँ जब इस तरह उभरती है, तब वे अपने रूप को पूर्णत: बदल कर ही प्रकट होती हैं। चोर यदि स्वयं के ही अर्थात् चोर के ही वेश मे ही आए, तो उसे पहचानना-पकड़ना सहज होता है। पर वही यदि किसी सज्जन या साधु के वेष में आए, तब तो उसे पकड़ना तथा दण्ड देना तो दूर की बात, उसे पहचानना तक कठिन होगा। दूसरी ओर वह स्वयं हमें बड़ी आसानी से धोखा दे सकता है। सगे-सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन के अन्त:करण में सामान्य प्राणियों जैसी आसक्ति ही उभरी। यदि उसे ज्ञान रहा होता या हो पाता कि यह 'स्वजनों के प्रति आसक्ति' है, तब विशेष गड़बड़ी नही होती। पर उस 'आसक्ति' को ही वह 'परा-कृपा' समझ बैठा – वह 'अपार-करुणा' के रूप में उसके अन्त:करण में उभरी।

इसलिए साधक को अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि हर व्यक्ति में और इसीलिए स्वयं में भी ये आसक्ति तथा कामना आदि दोष छिपे हुए हैं और यह भी जान लेना चाहिए कि ये दोष कभी भी, अकारण भी बाहर प्रगट होते हैं – अत्यन्त उग्रता से प्रगट होते हैं – और विशेष बात यह कि वे ऐसे वेश में प्रकट होते हैं कि हम छले जा सकें, और बाद में हर्ष-शोक-मोह इत्यादि क्रिया-प्रतिक्रिया की परम्परा आरम्भ होकर स्वधर्म का पूर्णत: विस्मरण होकर हम अपने जीवनोद्देश्य से, ईश्वर से अनजाने ही दूर होते जाते हैं – हमारे जीवन का पूरा

सर्वनाश हो जाता है – सब मटियामेट हो जाता है।

सारांश यह कि साधक में स्वधर्म और उसके पालन द्वारा सिद्ध हो सकनेवाले अपने जीवन-उद्देश्य के विषय में सजीव-बोध तो होना ही चाहिए, पर इसके साथ ही उसे अपने मानव-सुलभ आसक्ति-वासना आदि दोषों के विषय में और उनसे जन्म लेनेवाली अनर्थ-परम्परा के विषय में भी जागरूक होना चाहिए। यह तो उसे जानना ही चाहिए कि मनुष्य किस प्रकार सत्य-स्वरूप ईश्वर की ओर जाता है, पर उसे यह भी जानना चाहिए कि व्यक्ति किस प्रकार अनजाने ही ईश्वर से दूर चला जाता है। सफल आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक, इन विधि तथा निषेध रूप दोनों पहलुओं को जो जानता है, कहा जा सकता है कि वही सम्पूर्ण जीवन-विद्या जानता है, वही जीवन-पारंगत हो सकता है और कृतार्थ हो सकता है।

– ६ –

गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'इति महाभारते...' आदि संकल्प आता है। उसमें विभिन्न अध्यायों को एक एक नाम दिया हुआ मिलता है। गीता के प्रथम अध्याय के वैसे संकल्प में उसका नाम दिया गया है – 'अर्जुन-विषाद-योग'!

अर्जुन-विषाद-योग! कितना बोधक तथा अर्थपूर्ण नाम है!

अर्जुन को जैसा शोक हुआ, विषाद हुआ, वैसा शोक-विषाद बहुतों को होता है। भेद हो सकता है तो बस परिमाण में। पर अपने विषाद में हम बह जाते हैं। अपने जीवन उद्देश्य से, ईश्वर से वियुक्त हो जाते हैं। अर्जुन का उल्टा हुआ। उन्हें कितना भयंकर, अभूतपूर्व विषाद हुआ! पर भगवान श्रीकृष्ण ने उस विषाद के सच्चे स्वरूप का, उसके कारण-कार्य परम्परा का, उसके मूल कारण का अर्जुन को भलीभाँति बोध कराया – इस सारी अनर्थ परम्परा के मूल में 'मैं और मेरा' ही है, यह दिखाकर 'प्रभो, तू और तेरा ही' का बोध उनके हृदय में बैठाया – शोक-उद्विग्न अर्जुन को उस विषाद से निकालकर उनके जीवनोद्देश्य से – सत्यस्वरूप भगवान से युक्त किया।

* * *

इस बात की कल्पना ही नहीं की जा सकती कि प्रभु यदि इस तरह मार्गदर्शन करने के लिए वहाँ न होते, तो अर्जुन का क्या हुआ होता। यदि यह सत्य हो, तो भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि केवल ईश्वर के मार्गदर्शन से ही अर्जुन का विषाद-योग सिद्ध हो सका। **विसृज्य सशरं चापम्** – धनुष-बाण को नीचे रखकर **न योत्स्य इति गोविन्दम् उक्त्वा तूष्णीं वभूव ह** – श्रीकृष्ण को 'मैं नही लडूँगा' कहकर चुपचाप बैठे हुए अर्जुन यदि सच में ही अपने कथनानुसार श्रीकृष्ण की एक बात भी न सुनकर, उनके मार्गदर्शन की उपेक्षा कर, अपने ही मन की बात पर चलकर, स्वयं के विचारों तथा भावनाओं पर जोर देकर वहाँ से चले गये होते, तो जीवन में उन्होंने सिर्फ विषाद का ही साधन किया होता – विषादयोग का नहीं। अवतारी महापुरुषों के सान्निध्य में आकर भी जीवन व्यर्थ जाने के उदाहरण कम नहीं हैं। इसीलिए अन्त में अर्जुन के मुँह से ऐसे समाधान-सफलता के उद्‌गार निकल सके, "हे अच्युत, तुम्हारी असीम कृपा से मेरा मोह नष्ट हुआ है, अब मेरा आत्म-स्वरूप से योग हो गया है, मेरे सारे संशय नष्ट हो गये हैं, अब तुम जैसा कहोगे वैसा ही करूँगा।" इसका कारण भगवान श्रीकृष्ण का अमोघ, ज्योतिर्मय मार्गदर्शन तो है ही, पर कुछ गुण सोने का भी है।

अर्जुन को इतना शोक हुआ था कि उसे लगा, "पृथ्वी का निर्वैर एकक्षत्र राज्य और साथ में स्वर्गलोक का राज्य मिलकर भी, समस्त इन्द्रियों का दाह करनेवाला मेरा यह शोक दूर नहीं कर सकेगा।" लड़ने की उसकी इच्छा पूर्णत: खत्म हो चुकी थी। उसने निश्चय किया था – **न योत्स्ये** – नहीं लड़ूँगा। पर उस इतनी भयंकर मन:स्थिति में भी अर्जुन कहते हैं –

कार्पण्यदोषोपहत-स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यत्श्रेयः स्यात् निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं, शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

– हे कृष्ण! मैं इतनी छोटी-मोटी बातों से मैं हताश होनेवाला नहीं हूँ। पर इस स्वजनप्रेम की भावना ने एकाएक जकड़कर मुझे किस तरह दीन-हीन कर डाला है। मेरे मूल स्वभाव को इन सबके कारण ने अवरुद्ध कर लिया है। यह ठीक नहीं है। मुझे बोध है कि इसमें कुछ दोष जरूर है, कुछ गलत अवश्य हो रहा है, पर इस समय मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं। मेरे मन में स्वयं के कर्तव्य के विषय में विचित्र द्वन्द्व मचा हुआ है। पर हे कृष्ण, मेरे साथ कुछ भी हुआ हो, पर तुम इन दोषों से, इस गड़बड़ी से पूर्ण अलिप्त हो, तुम्हें तो कभी ये द्वन्द्व-दोष स्पर्श भी नहीं कर सकते। हे कृष्ण, तुम मेरे सखा हो, इस समय मैं किसकी ओर देखूँ? अब तुम्हीं मुझे बताओ कि मेरा कल्याण, मेरा हित कैसे होगा, किस तरह के व्यवहार से मैं सत्य से वंचित नहीं होऊँगा – केवल तुम्हीं मुझे यह दृढ़तापूर्वक, असन्दिग्ध रूप से बता सकते हो। हे कृष्ण, तुमने मुझे अपने सखा के रूप में गौरव दिया, पर मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। हे कृष्ण, मैं तुम्हारी शरण में हूँ, तुम मुझे बताओ, मुझे उचित मार्ग दिखाओ।"

अर्जुन के हृदय में घोर अँधेरा छाया हुआ था, पर उसी में एक नन्ही-सी, क्षीण-सी दीपशिखा जल रही थी – स्वयं के मर्यादाओं का बोध, अपने अज्ञान का बोध, श्रेय का आकर्षण, श्रेय-प्राप्ति हेतु श्रीकृष्ण-जैसे के मार्गदर्शन की अपरिहार्यता का बोध और अहंकार को दूर रखकर ऐसे मार्गदर्शक तथा उसके उपदेशों पर चलने की मानसिक तैयारी आदि भाव उस विरुद्ध मन:स्थिति में भी अर्जुन के हृदय में स्पन्दित हो रहे थे। और

इसीलिए उसका विषाद 'विषाद-योग' में परिणत हो सका।

अर्जुन के मन में विचारों और भावनाओं का भयंकर तूफान उठा हुआ था। उन्हें सचमुच लग रहा था कि लड़ना नहीं है। पर प्रत्यक्ष आचरण में वे अपने परिवार, अपनी भावना, अपनी समझ – सबकी सीमा को समझकर, स्वयं के स्वभाव-सिद्ध दोष को जानकर, अपने मन के अनुसार व्यवहार न कर वे गुरूणां गुरुः – परमगुरु श्रीकृष्ण की शरण में गये और उनके अमोघ मार्गदर्शन पर ही निर्भर रहे। उन्होंने श्रीकृष्ण की सारी बातों को समझने का यत्न किया, उनसे प्रश्न-पर-प्रश्न पूछे, पर अपनी अज्ञानान्ध बुद्धि का, अविवेकान्ध भावनाओं का, अट्टाहासान्ध 'मुझे तो ऐसा लग रहा है' का वे शिकार नहीं बने। और इसीलिए उनका विषाद विषाद-योग में परिणत हो सका, उनका चिर-मंगल हुआ, उनका जीवन स्वर्ण बना।

– ७ –

हम भी यदि अर्जुन का अनुसरण करें, तो हमें भी जीवन में अपरिहार्य रूप से उठनेवाले शोक-विषादों के झँझावात अपने मार्ग से च्युत नही कर सकेंगे, जीवन के सत्य से वंचित नहीं कर सकेंगे – हम उस विषाद का भेद करके स्वधर्म द्वारा उस सत्य से – सत्य-स्वरूप भगवान से युक्त हो सकेंगे।

* * *

ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, अस्पर्शयोग आदि अनेक योग हमें ज्ञात हैं। भगवती गीता ने हमें एक और अद्भुत योग प्रदान किया है – विषादयोग!

भगवान से युक्त होने लायक ज्ञान या भक्ति या कर्मशीलता शायद हममें न हो। परन्तु शोक-विषाद तो हमारे जीवन में खूब, पग पग पर आते हैं। कुरुक्षेत्र के रणांगण में विषाद से विह्वल हुए अर्जुन का अनुसरण करके, अपने जीवन को विषमय करनेवाले इस विषाद को पराजित कर, आसक्ति रूप उसके कारण को लाँघ कर, उसके 'मैं' और 'मेरा' के भ्रान्ति-बोध के कारण का 'प्रभु, तू और तेरा' बोध से या सम्यक्-दर्शन से निवारण करके, चलिए अन्त में हम सदा-सर्वदा के लिए उस बोध या प्रज्ञा में स्थित होकर धन्य हो लें, कृतार्थ हो ले – जीवन का, मानव-जन्म का उद्देश्य सफल कर ले।

❖ (क्रमशः) ❖

नहीं मिलेगा उनसे बढ़कर

ब्रह्मचारी हेमलाल

मन गंगा-सा पावन जिनका,
मानव वही महान्।
नहीं मिलेगा उनसे बढ़कर,
दुनिया में भगवान ।।

काम क्रोध मद लोभ मोह ये,
निकट न उनके आते।
राग द्वेष से हो विरक्त वे,
परम शान्ति को पाते।
सत्य अहिंसा और धर्म का,
जो देते नित दान ।।
नहीं मिलेगा उनसे बढ़कर,
दुनिया में भगवान ।।

ऊँच नीच का भेद मिटाकर,
सबमें प्यार बहाते।
नहीं दुखाते किसी जीव को,
सबको गले लगाते।
नहीं चाहते कभी किसी से,
रहते सदा अमान ।।
नहीं मिलेगा उनसे बढ़कर,
दुनिया में भगवान ।।

स्वत्व पराया कभी न लेते,
बने तो रोटी देते।
अपने को सम-अर्पित करके,
और को जीवन देते ।।
लाखों में है कोई निकलता,
'हेम' बड़ा इंसान ।।
नहीं मिलेगा उनसे बढ़कर,
दुनिया में भगवान ।।

(पारख प्रकाश, अप्रैल, २००२ से साभार)

अनमोल उक्तियाँ

* हमें कुछ करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए, ताकि हम कह सकें कि हमारा जीवन व्यर्थ नहीं गया और काल के बालुकामय पथ पर अपनी कुछ छाप छोड़कर जा सकें।

* हे परमेश्वर, हमें अच्छाई प्रदान करो, भले ही हम उसके लिए प्रार्थना न करें और हमें बुराइयों से दूर रखो, भले ही हम उसके लिए याचना करें!

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

७२. प्रश्न – कार्य के लिए कारण अपेक्षित है। अत: हमारा वर्तमान हमारे अतीत के परिणामस्वरूप है। तो क्या अतीत के परिणाम से छुटकारा सम्भव है?

उत्तर – यह सत्य है कि सामान्यत: कार्य-कारण का नियम अकाट्य होता है, पर यह भी सत्य है कि कार्य की तीव्रता को वर्तमान कारण के फलस्वरूप हल्का किया जा सकता है और इस प्रकार अतीत के परिणाम से छुटकारा पाया जा सकता है। आपका प्रश्न दूसरे शब्दों में यों होगा – क्या इच्छा-स्वातंत्र्य नाम की कोई चीज है, या सर्वत्र भाग्य ही फला करता है? भाग्य और इच्छा-स्वातंत्र्य का झगड़ा बहुत पुराना है। भाग्यवादी यह मानता है कि वर्तमान पूरी तरह से अतीत का ही परिणाम है, इसलिए वह वर्तमान को अटल और अपरिवर्तनीय मानता है। इसके फलस्वरूप, वह पुरुषार्थ में कोई श्रेय नहीं देखता। वह प्रयत्न करना व्यर्थ मानता है और अकर्मण्य एवं आलसी हो जाता है। दुर्भाग्यवश भारत एक अरसे से इस तरह की विचारधारा का शिकार रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने पहली बार सिंह-गर्जना करते हुए भारत के पौरुष को जगाया और भारतवासियों को यह पाठ सिखाया कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है और इसलिए वह अपने भाग्य में इच्छानुसार परिवर्तन ला सकता है। वर्तमान जीवन की सभी घटनाओं तथा क्रियाओं को अतीत का परिणाम मान लेने से यह भी मानना पड़ेगा कि ये ही घटनाएँ और क्रियाएँ भावी जीवन की घटनाओं और क्रियाओं का निर्माण करेंगी और इस प्रकार व्यक्ति के लिए इच्छापूर्वक करने को कुछ नहीं रह जाएगा। ऐसी विचारधारा गलत है। यह सत्य है कि अतीत ही हमारे वर्तमान का निर्माण करता है और वर्तमान हमारे भविष्य का, पर यह सत्य नहीं कि अतीत ही हमारा भविष्य बनाता है। हम अपने वर्तमान को इच्छानुसार रूप दे सकते हैं। एक उदाहरण से इस बात को समझने की कोशिश करें। मान लीजिए, कोई ताश खेलने बैठा है। अब उसके हाथ में जो पत्ते आए, इसे तो अतीत का परिणाम माना जा सकता है। पर उन पत्तों से खेलने का जो कौशल होगा, उसे वर्तमान को बदलने की चेष्टा या इच्छा-स्वातंत्र्य या पुरुषार्थ के नाम से पुकारा जा सकता है।

श्रीरामकृष्ण देव अपनी सहज-सरल वाणी में कहा करते थे कि यदि पूर्व कर्मों के फलस्वरूप किसी व्यक्ति के भाग्य में पैर का कटना बदा हो, तो वर्तमान जीवन में अच्छे कर्म करने से, भगवान की भक्ति करने से और उनकी शरण में जाने से उसका पैर तो न कटेगा; पर हाँ, काँटा चुभकर रह जाएगा।

७३. प्रश्न – क्या नारियों के लिए ओंकार का जप विहित है? कुछ लोग मानते हैं कि नारी वेद नहीं पढ़ सकती। क्या इस मान्यता का कोई वैज्ञानिक आधार है?

उत्तर – हाँ, नारी ओंकार का जप कर सकती है। नारी वेद का पाठ कर सकती है। नारी को वेद-पाठ आदि के अधिकार से वंचित किया गया, पर इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। प्राचीन काल में नारियाँ वेद-प्रवचन में भाग लिया करती थीं, इसके प्रमाण हमें प्राप्त हैं। जैसे लड़कों की शिक्षा-दीक्षा के लिए गुरुकुल होता था, लड़कियों की शिक्षा के लिए भी उसी प्रकार की व्यवस्था थी। लड़कों के उपनयन-संस्कार के ही समान लड़कियों का भी उपनयन संस्कार होता था। ब्रह्म-वादिनी गार्गी का नाम अतिशय प्रसिद्ध है ही। वेदों में पुरुष-ऋषियों द्वारा रचित मंत्रों के समान ही नारी-ऋषियों द्वारा रचित मंत्र भी दृष्टिगोचर होते हैं। जब नारी वैदिक सूक्तों की रचयिता है, तो क्या नारी उन वैदिक सूक्तों को पढ़ नहीं सकती? नारियों को वेद-पाठ आदि का अधिकार छीन लेना पुरुष का उन पर अत्याचार है। यही अत्याचार नारी को धीरे धीरे विशाल दायरे से ढकेलता हुआ अन्त में घर की चाहरदीवारी में बन्द कर देता है।

ओंकार जगत् में व्याप्त उस परम सत्ता का शाब्दिक प्रतीक है। उसका जप करने में नारी को भला क्या बाधा हो सकती है? विज्ञान-जगत् के प्रयोग जैसे नारी और पुरुष दोनों के लिए समान अर्थ और महत्त्व रखते हैं, वैसे ही अध्यात्म-जगत् के प्रयोग भी दोनों के लिए समान महत्ता रखते हैं। ओंकार के जप से यदि पुरुष आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है, तो नारी के लिए भी उसका वही महत्त्व है। हिन्दू समाज प्राचीन काल में नारी को पुरुष के ही समान सभी क्षेत्रों में अग्रसर होने के अवसर देने का हिमायती था। बीच के काल में मुगलों के आक्रमण से हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई। इन विधर्मियों में नारी को किसी प्रकार का अधिकार

प्राप्त नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी छाप हिन्दू समाज पर भी पड़ गई और नारी केवल पुरुषभोग्या बनकर रह गई। समाज की इस दुरवस्था को दूर करना है और हिन्दू संस्कृति के दीप्तिमान रत्नों को अच्छी तरह परिष्कृत कर पुन: संसार के समक्ष रखना है।

७४. प्रश्न – 'भाग्यो फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्' – महाभारत में महासती कुन्ती के इस उद्गार का क्या औचित्य है? क्या भाग्य की प्रबलता मानव-जीवन में सर्वथा अटल है?

उत्तर – भाग्य प्रबल तो हुआ करता है, पर जीवन में प्रयत्न का, पुरुषार्थ का भी स्थान है। बल्कि यों कहें, जीवन में आधा हिस्सा यदि भाग्य का रहता है, तो आधा पुरुषार्थ का भी। कुन्ती का जीवन दुर्योगों से परिपूर्ण है, अत: स्वाभाविक ही उनके मुख से उपर्युक्त उद्गार निकल पड़ता है। पर यदि हम ध्यानपूर्वक पाण्डवों के जीवन को देखें, तो उसमें पग पग पर पुरुषार्थ भी कार्यरत दिखाई देता है। उनका पुरुषार्थ ही उन्हें 'लाक्षा-गृह' में जल मरने से बचाता है, वनवास के समय कौरवों का ग्रास बनने से रक्षा करता है और अन्त में महाभारत-युद्ध के द्वारा उन्हें विजयी बनाता है। यदि हम ऐसा कहने लगें कि 'लाक्षागृह' से उनका बचना अथवा महाभारत- युद्ध में उनका जीतना भी भाग्य के ही फलस्वरूप हुआ था, तब तो यह विघातक दृष्टिकोण हो जाएगा। तब तो हमारी हर क्रिया ही भाग्य का अनुवर्तन करनेवाली मान ली जाएगी। सब कुछ भाग्याधीन हो जाएगा। इससे जीवन से कर्म की प्रेरणा लुप्त हो जाएगी और मनुष्य सिर पर हाथ धरे भाग्य के भरोसे बैठा रहेगा। इस धारणा ने ही हमारे देश को आलसी, जड़, अकर्मण्य और गुलाम बनाया है। इसका सर्वथा परित्याग करना चाहिए और पुरुषार्थी बनना चाहिए। वेदान्त हमें यही बताता है कि हम सर्वशक्तिमान और अजेय हैं। हममें से प्रत्येक में अनन्त शक्ति निहित है, वही ब्रह्म छिपा है। इस छिपी अनन्त शक्ति को प्रकट करना ही वेदान्त की दृष्टि में जीवन का लक्ष्य है। अपने भीतर की शक्ति को प्रकट करने के लिए भाग्यवादी बनने से काम नहीं चलेगा, उसके लिए पुरुषार्थ चाहिए। वेदान्त भाग्य की बात स्वीकार नहीं करता।

इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्णदेव की एक बात याद आती है। एक जिज्ञासु ने उनसे पूछा था कि Destiny (भाग्य), Free Will (इच्छा-स्वातंत्र्य या पुरुषार्थ) और God's Grace (ईश्वर-कृपा) में परस्पर कोई सम्बन्ध है या नही? इस प्रश्न का समाधान कोई भी पश्चिमी दर्शन नहीं कर सका है, पर श्रीरामकृष्ण अद्भुत समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे एक दृष्टान्त देते हैं। एक चरवाहा अपनी गाय को जंगल में चराने ले जाता है। एक लम्बी रस्सी से गाय बँधी हुई है। चरवाहा रस्सी को मोड़कर दूसरी तरफ एक पेड़ से बाँध देता है और स्वयं किसी दूसरे वृक्ष की छाँह में लेट जाता है। अब, गाय स्वतंत्र भी है, और परतंत्र भी। यदि रस्सी की लम्बाई २५ फुट है, तो गाय २५ फुट के घेरे में घास चरने के लिए स्वतंत्र है; वह चाहे पेड़ से १ फुट दूरी की घास खाये, या २५ फुट दूरी की। पर वह २५ फुट के बाद परतंत्र है। अब गाय अपने घेरे की घास चर लेती है और रँभाती है। चरवाहा देखता है कि गाय ने २५ फुट के घेरे की सारी घास चर ली है, अत: वह आकर रस्सी की लम्बाई को बढ़ा देता है, जिससे गाय अब और भी बड़े घेरे में घास चरने के लिए स्वतंत्र हो जाती है। पर यदि चरवाहा देखे कि गाय बिना पूरी घास चरे रँभा रही है, तो वह रस्सी की लम्बाई नहीं बढ़ाता।

चरवाहा मानो ईश्वर का प्रतीक है, गाय जीव का प्रतीक है, और रस्सी की लम्बाई भाग्य की। जीव स्वतंत्र भी है और परतंत्र भी। एक घेरे के अन्दर वह पुरुषार्थ करने के लिए स्वतंत्र है, भले ही उस घेरे के बाहर वह भाग्य के द्वारा बँधा हो। यदि जीव अपनी मिली स्वतंत्रता के घेरे का पुरुषार्थ के द्वारा सदुपयोग करे, तो ईश्वर अपनी कृपा से उसके स्वतंत्रता के घेरे को बढ़ा देते हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

वेदों की शब्द-रचना अपरिवर्तनीय है

डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर

वेदों की रचना का कालनिर्णय करने का प्रयास करनेवाले आधुनिक अभारतीय तथा भारतीय विद्वानों ने अपने भिन्न भिन्न मतों का प्रतिपादन करते हुए एक-दूसरे का खण्डन किया है। इस परस्पर विवाद के कारण इस विषय में प्रतिपादित मतों में से कोई भी एक विशिष्ट मत स्वीकृत नहीं हुआ है। प्राय: भारतीयों को वेदों की प्राचीनता प्रतिपादित करनेवाला मत ग्राह्य लगता है और अभारतीयों को उसकी अर्वाचीनता प्रतिपादित करनेवाला। वेदकाल विषयक आधुनिक विवाद में वेदों के प्रति नितान्त श्रद्धा अन्त:करण में धारण करनेवाले परम्परावादी भारतीय विद्वानों के युक्तिवादों को ध्यान में रखना अत्यावश्यक है। वैदिक धर्म संकल्पना का परिचय होने के लिए उन प्राचीन युक्तिवादों का ठीक आकलन विशेष महत्त्व रखता है।

कालनिर्धारण असम्भव

प्राचीन भारतीय विद्वानों के मतानुसार वेद-रचना के काल का निर्धारण असम्भव है। संसार के सभी इतिहासज्ञों का इस बात पर मतैक्य है कि आज संसार में उपलब्ध सर्वप्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ ज्ञानराशि वेद ही है। पर उसका काल वे निर्धारित नहीं कर सके। ईसा पूर्व १००० से ७५००० वर्षों तक अन्यान्य शताब्दियों में वेदों की रचना मानने में कोई तुक नहीं है। इन अन्वेषकों का अध्ययन और चिन्तन अभिनन्दनीय है, परन्तु उनके निष्कर्ष स्वीकार करने योग्य नहीं हैं।

इस विषय में प्राचीन परम्परावादी भारतीयों की जो धारणा है, उसका सारांश इस प्रकार कहा जा सकता है –

वेद नित्य है और सृष्टि के आदि में ही वेदों का आविर्भाव हुआ। सृष्टि के पूर्व ही जिन परमात्मा ने वेदों का निर्माण किया होगा। जैसे कुम्हार जब घट का निर्माण करता है, तो पहले अपनी बुद्धि में उसका निर्माण कर, तदनुसार मिट्टी को आकार देता है। कोई भी कार्य किसी कर्ता के बिना नहीं हो सकता। यह ब्रह्माण्ड भी एक कार्य ही है, अत: तर्कानुसार उसके भी किसी कर्ता का अस्तित्व मानना होगा। हर कर्ता अपना कार्य, पहले बुद्धि में कल्पित करने के बाद ही उसे साकार करता है। इस निरपवाद सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड रूपी कार्य का भी, सर्वप्रथम उसके कर्ता की बुद्धि में आविर्भाव होना चाहिए। इस युक्तिवाद के अनुसार परम्पराओं की यह धारणा है कि सृष्टि के विधाता ने अपनी बुद्धि में जिस विचार की पहले कल्पना की, वही 'आम्नाय' यानी वेद है। सामान्य तर्क के अनुसार ब्रह्माण्ड रूपी कार्य के कर्ता को (कार्य के पूर्व) स्फूर्त होना जरूरी है।

इस तथ्य को मान्यता देने पर भी यह शंका उठती है कि सृष्टि-निर्माता की वह स्फूर्ति वेदस्वरूप ही थी – इस बात को मान्य करनेवाला प्रमाण नहीं है। वेदों को ही परब्रह्म परमात्मा का आद्य विचार क्यों मानें?

परमश्रेष्ठ आप्तवाक्य

इस शंका का उत्तर प्रत्यक्ष और अनुमान रूप प्रमाणों द्वारा देना असम्भव होने के कारण आप्तवाक्य-रूपी प्रमाण के द्वारा दिया जाता है। वैदिकों की धारणा है कि वेद ही परमश्रेष्ठ आप्त-वाक्य है। इस विषय में वेदों के वचन इस प्रकार हैं –

(१) यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्
तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा
तां सप्तरेभा अभिसन्नवन्ते ।। ऋग्वेद, १०/७१/३

(२) बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं
यत् प्रैरयत् नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्
प्रेम्णा तदेषां निहितं गुहाभिः।। वही, १०/७१/१

(३) तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः
ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्
यजुस्तस्मादजायत ।। वही, १०/९०/९

(४) तस्मादृचोऽपातक्षन्
यजुस्तस्मादपाकयन्।
सामानि यस्य लोमानि
अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।। वही, १०/७/२०

इन वेदमंत्रों में यज्ञ (अर्थात् यजनीय, पूजनीय ईश्वर परमात्मा) से चारों वेदों – ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व की उत्पत्ति स्पष्ट शब्दों में कही गई है। अतीन्द्रिय विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आप्तवाक्य का ही प्रमाण क्यों मानना चाहिए – यह पृथक् चर्चा का विषय है। वेदवाक्य का प्रामाण्य माननेवाले प्राचीन आचार्यों ने इस विषय में मार्मिक युक्तिवाद प्रस्तुत किया है। श्रेष्ठ दार्शनिकों द्वारा अंगीकृत 'आप्तवाक्य' के आधार पर वेदों का जनिता परमात्मा ही है – यह मत वैदिकों ने माना है। इसी मान्यता के आनुषंगिक रूप में यह भी मानना पड़ता है कि सर्वज्ञ व निर्दोष परमेश्वर के वेदों का जनक होने पर उनके वेद भी सर्वज्ञानमय व निर्दोष होने चाहिए। श्री शंकराचार्य ने वेदों का सर्वज्ञानमयत्व मानते हुए यह युक्ति प्रस्तुत की है –

महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेक विद्या स्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हि ईदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य

सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञात् अन्यतः सम्भवः अस्ति। (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, १.१.३)

अर्थात् – "ऋग्वेदादि महान् शास्त्र अनेक विद्यास्थानों (चार वेद, छह शास्त्र, धर्मशास्त्र, पूर्वोत्तर मीमांसा और तर्कशास्त्र – इन १४ विद्याओं को 'विद्यास्थान' कहते हैं।) से विकसित हुए हैं और वे प्रदीपवत् सारे विषयों को प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार के सर्वज्ञानसम्पन्न शास्त्र (अर्थात् वेदों) का उत्पत्ति-स्थान ब्रह्म ही हो सकता है, क्योंकि सर्वज्ञ परमब्रह्म परमात्मा के अतिरिक्त और किसी से ऋग्वेदादि सर्वज्ञान-सम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति नहीं हो सकती।"

वेदों का जनक – ईश्वर

सर्वज्ञ ईश्वर ही वेदों का जनक होने से उसका वेदरूप कार्य भी सर्वज्ञानपूर्ण होना चाहिए – इस अनुमान-मात्र से भी श्री शंकराचार्य का युक्तिवाद अधिक वेद-निष्ठापूर्ण है। वे कार्यरूप वेदों का सर्वज्ञानमयत्व सिद्धवत् मानकर उसके कारण के सर्व-ज्ञानमयत्व का तर्क प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् इस तर्क के अनुसार परब्रह्म परमात्मा सर्वज्ञानमय होने के कारण, वही वेदों का जनक या निर्माता माना जा सकता है।

शंकराचार्य ने वेदों का ईश्वर-कर्तृत्व सिद्ध करते हुए उन के विषय में **विद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य** आदि जो विशेषण लगाये हैं, उनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। इसका पहला कारण श्री शंकराचार्य जैसे विश्ववन्द्य परमज्ञानी महापुरुष ने उन विशेषणों का प्रयोग किया है और दूसरा यह कि अति प्राचीन काल से अब तक के सुदीर्घ कालावधि में विविध प्रकारों से जो वेदों का मन्थन व चिन्तन हुआ, उससे भी उन विशेषणों की यथार्थता सिद्ध हुई है।

वेदों की 'सर्वज्ञता' पर आचार्य शंकर की इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा है कि अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में 'पांचरात्र' मत का खण्डन करते हुए उन्होंने यह युक्तिवाद प्रस्तुत किया है कि शाण्डिल्य को चारों वेदों में निःश्रेयस् का मार्ग न दिखने के कारण उन्होंने इस (पांचरात्र-दर्शन) शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया, इस पांचरात्र-दर्शन के स्तुतिवाक्यों में वेदों की निन्दा ध्वनित होती है, अतः वह दर्शन भी अग्राह्य मानना होगा – **विप्रतिषेधाच्च भवति। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयः अलब्ध्वा शाण्डिल्यः इदं शास्त्रम् अधिगतवान् इत्यादि वेदनिन्दादर्शनात्।**

भगवान व्यास ने भी **विप्रतिषेधाच्च** (२.२.४५) – इस ब्रह्मसूत्र के द्वारा यही मत सूचित किया है। इस प्रकार वेदों का ईश्वरकर्तृत्व, उपपत्ति और उपलब्धि (अनुमान और आप्तवाक्य) इन प्रमाणों के आधार पर सिद्ध मानते हुए अर्वाचीन (पाश्चात्य और पौरस्त्य) विद्वानों ने अथवा प्राचीन वेद-विरोधी नास्तिक विद्वानों द्वारा माना हुआ वेदों का पौरुषेयत्व याने पुरुषकर्तृत्व वैदिकों की परम्परा में अप्रमाण माना गया है।

वेदों का नित्यत्व

परम्परावादियों द्वारा शिरोधार्य किया हुआ वेदों के नित्यत्व तथा अपौरुषेयत्व का सिद्धान्त विविध 'आस्तिक' दर्शनों के आचार्यों ने अन्यान्य युक्तिवादों से प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है – भगवान जैमिनी जी ने अपने पूर्व मीमांसा दर्शन में इस विषय की चर्चा की है। उन्होंने **कर्मेव तत्र दर्शनात्** – इस सूत्र से आगे १२ सूत्रों में वेदों का अनित्यत्व प्रतिपादन करनेवाले पूर्वपक्ष के तर्क सविस्तार देकर, आगे **नित्यस्तु स्वाद् दर्शनस्य परार्थत्वात् (१.१.६)** आदि छह सूत्रों द्वारा अनित्यवादी पक्ष के तर्कों का खण्डन करते हुए वेदों का नित्यत्व बड़ी मार्मिकता से प्रतिपादन किया है।

उत्तरमीमांसा दर्शन में भगवान बादरायण व्यासजी ने **शास्त्रयोनित्वात्** – सूत्र के द्वारा वेदों का उद्गम परब्रह्म से ही हुआ है, इस सिद्धान्त को प्रतिपादित कर यह निष्कर्ष बताया है कि परमात्मा नित्य होने के कारण उसका ज्ञान यानी वेद भी नित्य ही होने चाहिए।

वैशेषिक दर्शन में वेदों का अपौरुषेयत्व और स्वतःप्रामाण्य – **तद्वचनात् आम्नायस्य प्रामाण्यम्** – इस सूत्र द्वारा प्रतिपादन किया है। इस सूत्र का विवरण करते हुए उपस्कारभाष्य में कहा है कि सूत्रस्थ **'तत्'** शब्द ईश्वरबोधक है, क्योंकि ईश्वर ही वेदों का जनक है – यह बात सुप्रसिद्ध और सिद्ध है। **तद् इति अनुपक्रान्तमपि प्रसिद्धि-सिद्धतया ईश्वरं परामृशति** – (वैशेषिक सूत्र उपस्कार भाष्य) – इसी सूत्र का दूसरे प्रकार से अर्थ निकालकर वेदों का प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। जैसे – सूत्रस्थ **'तत्'** शब्द, समीपस्थ धर्म यह बताता है। अतः धर्म का प्रतिपादन करने के कारण वेद को प्रामाण्य मिला है। जो वाक्य प्रामाणिक या प्रमाणसिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है, वह प्रमाणभूत ही होता है। **(यद् वा तत् इति सन्निहितं धर्मं एव परामृशति। तथा च धर्मस्य वचनात् प्रतिपादनात् वेदस्य प्रामाण्यम्। तत् प्रमाणम् एवं यतः इत्यर्थः – उपस्कार भाष्य)**

अन्य साधारण ग्रन्थों के समान वेद भी ग्रन्थ रूप ही होने के कारण पौरुषेय अर्थात् मनुष्यनिर्मित ही होने चाहिए – यह सामान्य तर्क सर्वत्र रूढ़ है। भाष्यकार कहते हैं – अतीन्द्रिय विषयों पर सहस्रावधि शाखाओं का इतना विशाल ग्रन्थ व्यक्त करना, हम जैसे मानवों का काम नहीं है। अर्थात् वह ईश्वर का ही काम हो सकता है – **वेदस्तावत् पौरुषेयः वाक्यत्वात् इति साधितम्। न च अस्मददायः तेषां सहस्र-शाखाच्छिन्नानां वक्तारः सम्भाव्यन्ते अतीन्द्रियार्थत्वात्। न च अतीन्द्रियार्थ-दर्शिनः अस्मदादयः।**

दार्शनिकों का मत

वैशेषिक दार्शनिकों ने वेदा का अपौरुषेयत्व प्रतिपादन करने के लिए अनेकविध तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनमें से केवल

कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं।

न्यायदर्शनकार गौतम मुनि '**मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् च तत् प्रामाण्यम् आप्तप्रामाण्यात्**' – सूत्र के भाष्य में कहते हैं – '**ये एव आप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते एव आयुर्वेद प्रभृतीनाम् इति आयुर्वेद-प्रामाण्यवत् वेद प्रामाण्यम् अनुमातव्यम्।** – अर्थात् वेदों के जो द्रष्टा व प्रवक्ता हैं, वे ही आयुर्वेदादि के प्रवक्ता हैं; अत: जैसे उन शास्त्रों को प्रमाण-भूत माना जाता है, वैसे ही वेदों को भी प्रमाण मानना उचित है।

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक भगवान कपिल वेदों के नित्यत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं – शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। अत: वेदरूप ज्ञानराशि नित्य ही होना चाहिए। इस विधान पर आक्षेपक कहते हैं – **तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।** इस मंत्र के अनुसार वेद यजनीय (यज्ञ) ईश्वर से उत्पन्न हुए। अत: वे नित्य नहीं हो सकते, क्योंकि उत्पन्न होनेवाला हर पदार्थ घटपटादि के समान अनित्य ही होता है। – **न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः (सांख्यसूत्र ४.४५)**

इस युक्तिवाद में वेदों के नित्यत्व का खण्डन करनेवाले ने भी वेदों का ईश्वर-कर्तृत्व मान्य किया है।

वेद अगर घटपटादि पदार्थों के समान उत्पन्न हुए हैं, तो उनका अपौरुषेयत्व अर्थात् ईश्वरकर्तृत्व क्यों माना जाय? यह भी प्रश्न उपस्थित किया गया। उसका समाधान करते हुए सांख्य-दर्शनकार कहते हैं कि वेद पौरुषेय हो ही नहीं सकते, क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में ऐसा कोई पुरुष अस्तित्व में ही नहीं था, जो वेदों की रचना कर सके – **न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः** वेदों के पौरुषेयत्व का खण्डन करते हुए – सृष्टिनिर्मिति के अवसर पर परमात्मा की स्वाभाविक शक्ति से वेदों का प्रादुर्भाव होता है। अत: वे स्वत:प्रमाण हैं – **नित्यशक्त्याभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्** – इस युक्तिवाद से वेदों का अपौरुषेयत्व सांख्य दर्शन में प्रतिपादित हुआ है।

असंख्य विवाद

इस प्रकार बुद्धकाल के पूर्वकाल में ही वेदों का अपौरुषेयत्व, नित्यत्व, स्वत:प्रामाण्य इत्यादि विषयों पर बड़े मार्मिक विवाद चलते आए हैं। सभी आस्तिक दर्शनकारों ने अपने सूत्रों तथा भाष्यों द्वारा वेदविरोधी युक्तिवादों का खण्डन करते हुए अपनी अद्‌भुत विचार-शक्ति का परिचय दिया है। उन सिद्धान्तों का, दार्शनिकों के मार्मिक युक्तिवादों का ठीक आकलन किये बिना प्राचीन भारतीयों का वेदविषयक दृष्टिकोण ध्यान में आना सम्भव नहीं है। अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में दार्शनिक विद्वानों ने जो अद्‌भुत बुद्धि-कौशल व्यक्त किया है, उसकी भूरि भूरि प्रशंसा अभारतीय विद्वानों ने भी की है। इस विषय में प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वान् म्यूर कहते हैं – इन दार्शनिकों के वाद-विवाद जो पढ़ता है, उसे उनके युक्तिवाद की तीक्ष्णता, तर्कों की निर्दोषता और प्रासंगिक उचित दृष्टान्तों की मौलिकता तथा सजीवता – इनकी ठीक कल्पना आए बिना नहीं रहती।

अपरिवर्तनीय वेद

वेदों का अपौरुषेयत्व, नित्यत्व एवं स्वत:प्रामाण्य – इन सिद्धान्तों का अपने प्रखर तर्कों तथा युक्तिवादों से प्रस्थापित करनेवाले परम्परावादी वैदिक पण्डितों का और एक आग्रह है कि वेदमंत्रों के अक्षरों का परम्परागत जो क्रम है, वह सर्वथा अपरिवर्तनीय है। उसके एक भी अक्षर, वर्ण या मात्रा में भी लेशमात्र परिवर्तन करने पर वह मंत्र 'वैदिक' नहीं रहेगा। **अग्निमीळे पुरोहितम्** – इस मंत्र का **इळे अग्निं पुरोहितम्** – इस प्रकार पाठान्तर करने से अर्थहानि भले ही न हो, परन्तु उस मंत्र के वैदिकत्व की हानि अवश्य होती है। वैदिक वाक्यों और अवैदिक वाक्यों में यही महत्त्वपूर्ण भेद है। 'पात्रम् आहर' इस लौकिक वाक्य की रचना '**आहर पात्रम्**' इस प्रकार उल्टी करने पर भी कोई दोष नहीं माना जाता। परन्तु वैदिक वाक्य में इस प्रकार से परिवर्तन करने से उसमें मंत्रत्व नहीं रहता। इसका कारण यह माना गया है कि वेद नित्य होने के कारण उनके शब्दों का क्रम प्रत्येक कल्प में एकरूप ही रहता है। प्राचीन कल्पों का विशिष्ट क्रम की शब्दराशि, कल्पान्तरों के पश्चात् मंत्रद्रष्टा के हृदय में उसी क्रम से प्रगट होता है। नए कल्पों के ऋषि नूतन वेदों का निर्माण नहीं करते। वास्तव में ऋषि वेदमंत्रों के कर्ता या निर्माता होते ही नहीं। इसी कारण वेदों का अपौरुषेयत्व सम्प्रदायानुसार माना गया है। इस प्रकार वेदों का अपौरुषेयत्व मान्य करने पर भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (वंचना करने की इच्छा) इत्यादि पुरुषकृत् दोषों की वेदों में कल्पना भी करना अयोग्य होता है। इसी सर्वंकष निर्दोषता के कारण वेदवाक्यों को आप्तवचनरूप निरपवाद प्रामाण्य साम्प्रदायिकों द्वारा दिया गया है।

साम्प्रदायिकों का वेदों के विषय में और भी एक सिद्धान्त है, उतना बताकर इस विषय को विराम देंगे।

अग्निमीळे पुरोहितम्। यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातजम् – इस आद्य वेदमंत्र में भाषा के प्रमुख स्वरों और व्यंजनों का अन्तर्भाव होता है। अत: यह आद्य वेदमंत्र ही सर्व वर्णों का अर्थात् वर्णात्मक भाषाओं का मूल है।

प्राचीन वैदिक विद्वानों की वेद-विषयक धारणाएँ किस प्रकार की थी, और उनका समर्थन किस प्रकार से युक्तिवादों से किया जाता था, इसकी संक्षेपत: सामान्य कल्पना प्रस्तुत विवेचन से आ सकती है। हमने यहाँ अर्वाचीन और प्राचीन दोनों मतों का यथाशक्ति संक्षेपत: परिचय दिया है। पाठक अपना मत निर्धारित करें। ❑❑❑

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

२ मार्च, १९२०

ज्ञान दो प्रकार से होता है – स्वसंवेद्य और परसंवेद्य। स्वसंवेद्य अर्थात् स्वयं की उपलब्धि के द्वारा जो ज्ञान होता है, वही यथार्थ है और उसे शास्त्र-वाक्य तथा जीवन्मुक्त-लक्षण से मिला लेने पर कोई सन्देह नहीं रह जाता। स्वयं उस अवस्था की अनुभूति करने के कारण बाह्य दृष्टि से असामंजस्य प्रतीत होने पर भी भीतर समभाव विद्यमान रहने के कारण उपलब्धि के बारे में किसी भी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं रह जाता। पर-संवेद्य ज्ञान शास्त्र-पाठ आदि के द्वारा होता है, जो बहिर्लक्षण पर आधारित है और स्वयं अनुभूत न होने के कारण स्वरूप-ज्ञान या जीवन्मुक्त की अवस्था ठीक ठीक नहीं समझ सकता।

जैसे एक बालक को रमण-सुख नहीं समझाया जा सकता और वह वयस्क होने पर ही समझ सकता है, वैसी ही साधक की अवस्था भी है। शास्त्र और गुरुवाक्य में श्रद्धा रखकर साधना करने से समय आने पर वे अन्तर में उसकी अनुभूति कर लेते हैं। वेदान्त का एक दृष्टान्त है – कुमारियों में से एक विवाह के बाद सद्यः पतिगृह से लौटी है। उसकी अविवाहिता सखियों ने उससे पूछा – "पति-सुख कैसा होता है?" उसने कहा – "बहुत सुख है।" परन्तु अन्य बालिकाएँ कुछ भी न समझ सकीं। इसी बीच एक दूसरी नव-विवाहिता बालिका वहाँ आई। उनके प्रश्नों का विषय जानकर और पति-सुख समझकर वह मन्द मन्द हँसने लगी, परन्तु दूसरी बालिकाएँ कुछ भी न समझ सकीं। अतः जिन लोगों को वह अवस्था प्राप्त हुई है, वे ही उसे यथार्थ रूप से समझ सकते हैं, और दूसरे लोग उतना नहीं समझ सकते। केवल अनुमान के द्वारा कभी सन्देहरहित नहीं हुआ जा सकता।

जीवदशा में ज्ञान-प्राप्ति या आत्म-स्वरूप की स्थिति में भूत, वर्तमान या भविष्य का कोई भी बन्धन कारण न रहने से उन्हें जीवन्मुक्त या ब्रह्मविद् की संज्ञा प्राप्त होती है। प्रारब्धवश शरीर-सम्बन्ध रहने के कारण, शरीर का धर्म होने के फलस्वरूप बाह्य दृष्टि से गुणों तथा स्पर्श से प्रिय-अप्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर वह आनन्दित तथा उद्विग्न दिखता है; परन्तु अन्तर में स्वरूप का ज्ञान होने से साम्य-भाव में बाधा नहीं पड़ती। अतः गीता के 'दुःखेषु अनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः' आदि श्लोकों में वर्णित अवस्था में कोई व्यतिक्रम नहीं होता। आपने उसका जो अर्थ किया है, लगभग वैसा ही है। नित्यानित्य वस्तु का ज्ञान होने पर जीवन्मुक्त पुरुष के हृदय में अनित्य वस्तुओं के प्रति तादात्म्य भाव नहीं होता; परन्तु साधारण जीव में तादात्म्य भाव रहने के कारण 'मैं-मेरा' रूपी अज्ञान से अभिभूत होकर वह असीम दुःख-कष्ट भोगता है।

अज्ञान ही बन्धन तथा ज्ञान ही मुक्ति है, अतः ज्ञान का उदय होते ही उसे जीवन्मुक्ति के सिवा और क्या कहा जाय?

योग-वाशिष्ठ में साधक की अवस्था-भेद के अनुसार प्रथम भूमि से सप्तम भूमि तक के विभाग वर्णित हैं। इनमें प्रथम से तृतीय तक को साधक-भूमि कहते हैं और चतुर्थ से सप्तम तक को ज्ञान-भूमि। जीवन्मुक्ति की अवस्था चतुर्थ भूमि है, जिसे स्वप्नावस्था कहते हैं, उसमें सम्पूर्ण जगत् मिथ्या प्रतीत होता है, परन्तु चित्त को तब भी विश्रान्ति-लाभ नहीं होता। पञ्चम भूमि को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में चित्त सर्व-वृत्तिशून्य होकर विश्रान्ति-लाभ करता है तथा समाधि से वह स्वयं ही व्युत्थित हो सकता है। अतः ऐसा स्पष्ट लगता है कि दोनों भूमियों के बीच अन्तर है। षष्ठ भूमि पञ्चम भूमि की गाढ़त्व-प्राप्त अवस्था है, इसमें योगी दूसरे के प्रयास से व्युत्थित होता है, इसे प्रगाढ़ सुषुप्ति कहते हैं। सप्तम भूमि तीसरी अवस्था है; तब दूसरों के प्रयास करने पर भी वह व्युत्थित नहीं होता, सदा तन्मय और परिपूर्णानन्द में प्रतिष्ठित रहता है, शरीर प्रारब्धवश जीवित रहता है। साधारण योगी इस अवस्था से नहीं लौट पाते; परन्तु अवतार श्रेणी के पुरुष ईश्वरेच्छा से जगत्कल्याणार्थ 'मैं-मेरा' के राज्य में लौट आते हैं। श्रीरामकृष्ण बताते थे कि वे षष्ठ और सप्तम भूमि में तथा और भी नीचे तक आवागमन कर सकते हैं; और 'मैं भक्त' या 'मैं ज्ञानी' इस प्रकार की सद्वासना लेकर रहते हैं।

१५ अप्रैल, १९२०

हम लोगों को द्रष्टा के समान रहना होगा – यह बात पूरी तौर से सत्य है, और केवल तुम्हारे लिए ही नहीं, हम सभी के लिए। हम यदि ठीक इसी प्रकार रहें तभी संसार के मजे और कौतुक का उपभोग कर सकते हैं, दूसरा कोई भी उपाय नहीं। परन्तु हम लोग जो कुछ करते हैं, वह साक्षी-रूप से कर पाना अत्यन्त कठिन है। हम लोग कर्म के साथ अपने आपको मिश्रित कर डालते हैं, और सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। महामाया से प्रार्थना है कि वे सर्वदा हमें अपने सान्निध्य में रखें तथा अपने पास से हटाकर मायापाश में बद्ध न करें। जगदम्बा की कृपा से यदि मैं जीवन के अवशिष्ट दिन यथार्थ साक्षी के रूप में बिता सका, तो धन्य हो जाऊँगा।

तुम सभी को माँ की सन्तान और स्वामीजी के निष्ठावान अनुयायी के रूप में स्वार्थ व लोभ छोड़कर बहुजन-हिताय अपने जीवन का बलिदान करके वीर की भूमिका ग्रहण करनी चाहिए; क्योंकि जगदम्बा उन्हीं का भार लेती हैं, जो उनके आर्त व सहायता-प्रार्थी सन्तानों के हित का व्रत लेते हैं। ❑